आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव कृत

द्रव्यसंग्रह

द्रव्यसंग्रह प्रबोधिनी

मुनि श्री अक्षयसागरजी महाराज

कृति : द्रव्यसंग्रह

कृतिकार : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव

द्रव्यसंग्रह प्रबोधिनी
(मराठी) : मुनि श्री अक्षयसागरजी महाराज

हिन्दी अनुवाद : श्रीमती लक्ष्मी गुरुचरणदास जैन

संस्करण : प्रथम, जनवरी, 2013

आवृत्ति : 1100 प्रतियाँ

मूल्य : स्वाध्याय

अर्थ सौजन्य : पंकज, अम्बुज, संदीप, राजीव जैन
गीत, लोचन, पल्लवी, सीमा
144 मुनि टावर, नियर-मिल्लतनगर,
लोखण्ड वाला काम्पलेक्स
अन्धेरी (वैस्ट) मुम्बई नं. 53

मुद्रक : विकास आफसेट, भोपाल

मनोभावना

जैनधर्म में तीर्थंकर भगवान् ने दिव्यध्वनि में बताया है कि – ''इस संसार को न कोई बनाने वाला है, न कोई चलाने वाला, न कोई नष्ट करने वाला।'' जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों का समूह ही संसार है। जो शाश्वत है। अनादि-अनन्त है। इन छह द्रव्यों से सारे जैन जगत् (समाज) को अवगत कराने के लिये श्रीमद् नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उन्होंने गागर में सागर को भरकर हम अल्पज्ञ जीवों पर बहुत बड़ा उपकार किया है। इसी ग्रन्थ को परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परम शिष्य मुनि श्री 108 अक्षयसागरजी महाराज ने मराठी भाषा के 'द्रव्य संग्रह प्रबोधिनी' नामक छोटे से ग्रन्थ में छह द्रव्यों के विस्तृत विवेचन के माध्यम से अनेक विषय स्पष्ट किए हैं।

ये हमारा सौभाग्य है कि हम मुकुट सप्तमी पर महाराज श्री के दर्शन करने 'धामणी' ग्राम पहुँचे। उनके चरणों में नमोऽस्तु किया, उन्होंने उपर्युक्त मराठी ग्रन्थ हमें आशीर्वाद स्वरूप भेंट में दिया। धार्मिक चर्चा करते-करते हमने ग्रन्थ के चार-छह पन्ने पलटे और पढ़े। मराठी भाषा में होते हुए भी मुझ हिन्दी भाषी को ये ग्रन्थ बहुत ही सुगम और समझने में सरल लगा। द्रव्य संग्रह का इतना सरलीकरण अभी तक हमने नहीं देखा था। हमारे अन्तर्मन में भाव आया कि इस ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में भी अनुवाद होकर प्रकाशित हो। अपने भाव महाराज श्री के समक्ष करबद्ध प्रकट किए, उन्होंने पूछा आपको मराठी आती है। हमने हाँ में उत्तर दिया तब उन्होंने कहा कि आप ही इसका हिन्दी में अनुवाद करो। हमने सहर्ष अहो भाग्य समझकर स्वीकार किया और ग्रन्थ को प्रकाशित करवाने का आशीर्वाद भी प्राप्त किया।

परम पूज्य महाराज श्री के दर्शन प्रथम बार हमने कुम्भोज बाहुबली के शिविर में 5-6 वर्ष पूर्व किए थे। द्वितीय बार पूना और कोल्हापुर के बीच

किसी ग्राम में और अब तृतीय बार धामणी ग्राम में। कई वर्षों बाद भी पूज्य गुरुदेव ने हमें याद रखा ये हमारा परम सौभाग्य है। आप आगमिक चर्या के धनी, मृदु स्वभावी, भक्तों के प्रति वात्सल्य भाव धारण करने वाले, हँसमुख व्यक्तित्व वाले, सरल परिणामी, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी गुरु की श्रेणी में आते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव द्वारा रचित 'बृहद् द्रव्य संग्रह' परम पूज्य अक्षयसागरजी महाराज द्वारा अति सुगम सरलीकरण किया गया 'द्रव्य संग्रह प्रबोधिनी' ग्रन्थ बच्चे, व्यस्क, वृद्ध सभी श्रावकों के स्वाध्याय के लिए अपने आप में गुरु सिद्ध होगा। कारण कि इसमें एक एक छोटे से छोटे शब्द का रहस्य महाराज श्री ने स्पष्ट किया है। कहीं किसी भी शब्द को समझने में कठिनाई नहीं आ रही है। सभी इस ग्रन्थ का नियम से ज्ञानार्जन हेतु स्वाध्याय करें, तभी इस ग्रन्थ की सार्थकता है।

इसी के साथ परम पूज्य मुनि श्री अक्षयसागरजी महाराज के चरणों में हमारा कोटि-कोटि वन्दन।

24.10.2012 **लक्ष्मी गुरुचरणदास जैन**

आद्यमिताक्षर

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूणं।
जरमरणवाहिहरण खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं, ये जिनवचनरूपी औषध विषयसुख दूर करने वाली, अमृतरूपी, वृद्धावस्था-मरण आदि पीड़ा दूर करने वाली और समस्त दुःखों का नाश करने वाली है। ये जिनवचन की महिमा इस लघुकाय ग्रन्थ के स्वाध्याय से अनुभव में आयेगी। श्रीमद् नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव यह 'बृहद् द्रव्यसंग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें केवल तीन अधिकार व 58 गाथा हैं। ये ग्रन्थ आकार में छोटा है, परन्तु भावार्थ की दृष्टि में विशाल है। सम्पूर्ण जैन सिद्धान्त व अध्यात्म का सार इसमें भरा हुआ है। वास्तव में ये ग्रन्थ जिनसिद्धान्त रूपी महल में प्रवेश करवाने वाला मुख्य द्वार है। इसमें सम्पूर्ण जिनागम का निचोड़ है। ये ग्रन्थ केवल बालकों का ही मार्गदर्शक न होकर ज्ञानवृद्ध व वयोवृद्ध होने वाले सभी महानुभावों के लिए उपयुक्त है। तभी आज भी ये ग्रन्थ भारतवर्ष की सभी पाठशाला, गुरुकुल, विद्यालय, महाविद्यालय व विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है।

ये सारगर्भित ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत भाषा में लिखा गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल और सहज है। इसमें समास प्रचुरता व जटिलता को स्थान नहीं है। विषयवस्तु व्यवस्थित है। विषय का क्रम व प्रस्तुतिकरण समझने में सरल है। ग्रन्थ के विषयवस्तु का क्रम से विवेचन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार होने से ये ग्रन्थ लोकप्रिय बना है। ऐसा लगता है आचार्य महाराज को मानव की मनोवैज्ञानिकता की पृष्ठभूमि पहले से ही पता थी, आचार्य जी की सर्वोत्कृष्ट प्रतिभा का इसमें पता चलता है कि उन्होंने कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव और अर्थों को स्पष्ट किया है। इस प्रकार की सूत्रात्मक शैली ने इस ग्रन्थ को लाखों करोड़ों विद्वानों का कण्ठहार बना दिया है।

श्रीमद् नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने सर्वप्रथम 'लघु द्रव्यसंग्रह' ये 25 गाथा का लघुकाय ग्रन्थ लिखा था। बाद में ये 58 गाथा का ग्रन्थ लिखा। इसलिए इसे 'बृहद् द्रव्यसंग्रह' कहते हैं। इस ग्रन्थ पर श्री ब्रह्मदेवसूरि जी की टीका प्रसिद्ध है। उसमें वे प्रारम्भ में लिखते हैं कि -'' अथ मालवदेशे धाराग्राम-

नगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकालिकाल-चक्रवर्तीसम्बन्धिनः श्रीपाल-महामंडलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनगरे श्रीमुनिसुव्रत तीर्थंकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादि-दुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रय-भावनाप्रियस्य भव्य पुण्डरीकस्यभाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकावरिसोमाभिधान-राजश्रेष्ठिनो निमित्त श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्य-संग्रहस्याधिकार-शुद्धिपूर्वकत्वेन व्याख्या वृत्तिः प्रारभ्यते।''

इसी प्रकार लघुद्रव्यसंग्रह की अंतिम गाथा में स्वयं आचार्य लिखते हैं-

सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण॥25॥

अर्थ - श्री सोमश्रेष्ठी के निमित्त से भव्य जीवों के उपचार के लिए मैं श्री नेमिचन्द्र आचार्य देव के पदार्थ के लक्षण बताने की गाथा कहता हूँ।

इसमें निष्कर्ष निकलता है कि - 1. श्रीमद् नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव मालव प्रान्त के थे। 2. वे राजा भोज के समकालीन थे। 3. श्री सोमदत्त श्रेष्ठी को पढ़ाने के लिए या उनके निमित्त से इस ग्रन्थ की रचना हुई है। 4. मुनिसुव्रत तीर्थंकर के मंदिर में बैठकर ये ग्रन्थ लिखा गया है। अर्थात् उस समय मुनिराज चैत्यालय में रहते थे। 5. श्री ब्रह्मदेवसूरिजी के मतानुसार 'लघुद्रव्यसंग्रह' ये ग्रन्थ प्रथम लिखा गया, बाद में 'बृहद् द्रव्यसंग्रह'। उनके मतानुसार लघु द्रव्यसंग्रह में 26 गाथा थीं। परन्तु आज प्रत्यक्ष 25 गाथा उपलब्ध हैं।

आचार्यजी के ऊपर वाली समकालीन परिस्थिति के उल्लेख से ऐसा लगता है कि गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड इत्यादि करणानुयोग महान् ग्रन्थों के कर्त्ता व श्रवणबेलगोल यहाँ की गोम्मटेश्वर बाहुबली महामूर्ति की प्रतिष्ठापना करने की सत्प्रेरणा देने वाले सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र और प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता ये दोनों अलग-अलग थे। प्रस्तुत ग्रन्थकर्त्ता आचार्य के साथ सिद्धान्तिदेव ये उपाधि प्रयोग की जाती है। इससे उनकी विद्वत्ता का पता चलता है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की होगी परन्तु आज उनके केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

'बृहद् द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ को 'द्रव्यसंग्रह' ऐसा सम्बोधा जाता है। ये

ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा गया है। प्राकृत भाषा जैनों की मातृभाषा ही है। ये सहजबोधगम्य, नैसर्गिक, सरल, सहज व मृदु है। ''प्रकृतेर्भवं प्राकृतं निसर्गतः'' बनाई गई भाषा ही प्राकृत भाषा है। ये तत्कालीन समाज की बोली जाने वाली भाषा थी। आर्यों को आर्य भाषा में बताना हितकारक होता है, इस नियमानुसार इस ग्रन्थ की रचना की गई है। इसमें कुल मिलाकर तीन अधिकार हैं। प्रथम अध्याय में 27 गाथा हैं। उनमें पहले 14 गाथाओं में जीव का निश्चय-व्यवहारात्मक स्वरूप स्पष्ट किया गया है। पश्चात् 13 गाथाओं में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल इन द्रव्यों का विस्तृत वर्णन है। द्वितीय अध्याय में गाथा क्र. 28 से 38 इन 11 गाथाओं में सात तत्त्व व पुण्य-पाप इनके द्रव्य व भाव की अपेक्षा से भेद-प्रभेदों का वर्णन किया है। तृतीय अध्याय में गाथा क्र. 39 से 58 इन 20 गाथाओं में व्यवहार व निश्चय मोक्षमार्ग और मोक्ष के साधकतम साधन ध्यान ये विषय का मूलभूत विवेचन किया है। ऐसा ये लघुकाय ग्रन्थ आद्योपान्त मूलतः पठनीय है। सभी बारम्बार इसका वाचन-चिन्तन-मनन करके वर्तमान और भविष्यकालीन जीवन को सुखी बनायें।

प्रस्तुत 'बृहद् द्रव्यसंग्रह' इस ग्रन्थ पर मुनि श्री 108 अक्षयसागरजी महाराज ने 'द्रव्यसंग्रह प्रबोधिनी' ये ग्रन्थ लिखा है, जो अत्यन्त सुगम, सीधा-सादा सरल बनाने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक गाथा अन्वयार्थ, भावार्थ और पारिभाषिक शब्दों के संज्ञा के अर्थ प्रस्तुत करके बालकों से लेकर वृद्धों तक को ये प्रबोधिनी रसग्राह्य बनी है। परम पूज्य मुनि श्री जिनसिद्धान्त व अध्यात्म के पारगामी विद्वान् हैं, इसलिए उन्होंने आवश्यकतानुसार जिनागम सम्मत व्याख्या व गाथाओं के रहस्य अलग तरह से प्रस्तुत किये हैं। उनका ये सुबोध प्रस्तुतिकरण करने के कारण इस ग्रन्थ का बार-बार स्वाध्याय करें, ऐसा लगता है। यह ग्रन्थ अध्ययन-अध्यापन मार्गदर्शन के लिए उपयोगी होगा, ऐसा विश्वास है। परम पूज्य मुनि श्री अक्षयसागरजी के अथक व सम्यक् परिश्रम के कारण जिन सिद्धान्त के रहस्य समझने वाले भव्य जीव उनके सदा ऋणी रहेंगे।

बाहुबली ब्रह्मचर्याश्रम व विद्यापीठ — **आदिकुमार बेडगे**

बाहुबली — संचालक

अनुक्रम

गाथा	विषय	पृष्ठ क्र.
	प्रथम अध्याय	
1	मंगलाचरण	11
2	जीव द्रव्य के नौ अधिकार	13
3	जीवत्व अधिकार	14
4	उपयोग अधिकार (दर्शनोपयोग के भेद)	16
5	ज्ञानोपयोग के भेद	17
6	नय की अपेक्षा जीव के लक्षण	18
7	जीव के मूर्तिक और अमूर्तिक रूप	19
8	कर्त्ता अधिकार का वर्णन	20
9	भोक्ता अधिकार का वर्णन	21
10	स्वदेह परिमाणाधिकार	21
11	संसारी जीवाधिकार	23
12	चौदह जीवसमास	24
13	मार्गणा और गुणस्थान अपेक्षा से जीव के भेद	27
14	सिद्धत्व और ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार	30
15	अजीव के भेद	33
16	पुद्गल द्रव्य की पर्याय	34
17	धर्म द्रव्य का स्वरूप	36

18	अधर्म द्रव्य का स्वरूप	37
19	आकाश द्रव्य का स्वरूप	38
20	लोकाकाश और अलोकाकाश का स्वरूप	38
21	काल द्रव्य का स्वरूप	39
22	काल द्रव्य के प्रदेश	40
23	द्रव्य और अस्तिकाय के भेद	41
24	अस्तिकाय का स्वरूप	42
25	द्रव्यों की प्रदेश संख्या	43
26	परमाणु उपचार से काय	43
27	प्रदेश का स्वरूप	44
	द्वितीय अध्याय	
28	पदार्थों के नाम निर्देश	45
29	भावास्रव और द्रव्यास्रव का स्वरूप	46
30	भावास्रव का स्वरूप	47
31	द्रव्यास्रव का स्वरूप और भेद	48
32	भावबन्ध व द्रव्यबन्ध का स्वरूप	49
33	बन्ध के अन्य कारण	50
34	भाव संवर और द्रव्य संवर का स्वरूप	51
35	भाव संवर के भेद	51
36	निर्जरा का स्वरूप और भेद	53
37	मोक्ष का स्वरूप और भेद	54
38	पुण्य और पाप	55

तृतीय अध्याय

39	मोक्ष का निरूपण	57
40	रत्नत्रय स्वरूप आत्मा मोक्ष का निश्चय कारण	58
41	सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान	59
42	सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	59
43	दर्शनोपयोग का स्वरूप	60
44	दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति के नियम	61
45	व्यवहारचारित्र का स्वरूप और भेद	61
46	निश्चयचारित्र का स्वरूप	62
47	ध्यानाभ्यास की प्रेरणा	63
48	ध्यान लीन का उपाय	63
49	ध्यान करने योग्य मन्त्र	64
50	अरिहंत परमेष्ठी का स्वरूप	65
51	सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप	66
52	आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप	67
53	उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप	68
54	साधु परमेष्ठी का स्वरूप	69
55	साधु के निश्चय ध्यान की योग्यता	69
56	आत्मलीनता के उपाय	70
57	ध्यान के साधन, तप, श्रुत और व्रत	70
58	ग्रन्थकार की लघुता	71
	द्रव्य संग्रह पाठ	72

द्रव्यसंग्रह प्रबोधिनी

प्रथम अध्याय

मंगलाचरण

जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं, वंदे तं सव्वदा सिरसा॥ 1॥

अन्वयार्थ - **(जेण)** जिन **(जिणवरवसहेण)** जिनवर वृषभ ने **(जीवमजीवं दव्वं)** जीव और अजीव द्रव्य का **(णिद्दिट्ठं)** कथन किया है **(देविंदविंद वंदं)** इन्द्रों के समूह से वन्दनीय हैं **(तं)** उनको **(सव्वदा सिरसा वंदे)** सदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ - मैं (नेमिचन्द्र आचार्य) उन वृषभनाथ जिनवर अथवा जिनवरों में श्रेष्ठ तीर्थङ्करों को सदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने जीव और अजीव द्रव्य के स्वरूप का वर्णन किया है तथा जो सौ इन्द्रों द्वारा वंदित हैं।

द्रव्य - जो गुण और पर्याय से सहित है, उसे द्रव्य कहते हैं। जैसे - जीव द्रव्य है। ज्ञान-दर्शन इसके (जीव) गुण हैं। मनुष्य भव इसकी पर्याय है।

गुण - जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में (प्रदेश) अवस्था, पर्याय में पाया जाता है, उसे गुण कहते हैं।

पर्याय - पूर्व आकार (अवस्था) का त्याग तथा नूतन (नये) आकार को प्राप्त होना, पर्याय कहलाता है।

द्रव्य दो होते हैं - 1. जीव द्रव्य, 2. अजीव द्रव्य।

जीव - जो चेतना अर्थात् ज्ञान-दर्शन सहित है, उसे जीव कहते हैं। अथवा जो जीता था, जीता है व जीयेगा, वह जीव है।

अजीव – जिसमें चेतना नहीं पायी जाती अर्थात् जिसमें ज्ञान–दर्शन का अभाव है, उसे अजीव कहते हैं।

उदाहरण – कुर्सी, टेवल, कपड़ा, पेन आदि।

अजीव के पाँच भेद हैं– 1. पुद्गल, 2. धर्म, 3. अधर्म, 4. आकाश, 5. काल।

जीव के दो भेद हैं – 1. संसारी जीव, 2. मुक्त जीव।

संसारी जीव – जो संसार में रह कर जन्म–मरण के दु:खों को सहन करता है तथा जो आठ कर्मों से सहित है, उसे संसारी जीव कहते हैं।

उदाहरण – मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यञ्च।

मुक्त जीव – जिन्होंने आठ कर्मों को नष्ट कर दिया व जिन्होंने जन्म–मरण के दु:खों से छुटकारा पाकर मोक्ष को प्राप्त कर लिया है, उन्हें मुक्त अथवा सिद्ध जीव कहते हैं।

सौ इन्द्र –

भवणालयचालीसा, विंतरदेवाण होंति बत्तीसा।

कप्पामर चउवीसा, चंदो सूरो णरो तिरियो॥

भवनवासी देवों के चालीस, व्यन्तर देवों के बत्तीस, कल्पवासी के चौबीस व ज्योतिषी देवों के दो–सूर्य व चन्द्र, मनुष्यों का इन्द्र चक्रवर्ती व तिर्यञ्चों का इन्द्र सिंह इस प्रकार सौ इन्द्र हुए।

ग्रन्थ विस्तार – बृहद् द्रव्यसंग्रह 58 गाथा। ये ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है इसमें तीन अधिकार हैं।

पहला अधिकार – 27 गाथा– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों का वर्णन।

दूसरा अधिकार – 11 गाथा– जीव–अजीव की पर्याय, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप नौ पदार्थों का वर्णन।

तीसरा अधिकार – 20 गाथा– निश्चय मोक्षमार्ग, व्यवहार मोक्षमार्ग व तत्सम्बन्धी ध्यानादि का वर्णन।

जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥ 2॥

अन्वयार्थ - (**सो जीवो**) वह जीव, जीने वाला है (**उवओगमओ**) उपयोग वाला है (**अमुत्ति**) अमूर्तिक है (**कत्ता**) कर्मों का कर्ता है (**सदेहपरिमाणो**) अपने शरीर के बराबर है (**भोत्ता**) कर्मों का भोक्ता है (**संसारत्थो**) संसार में स्थित है (**सिद्धो**) सिद्ध है (**विस्ससा**) स्वभाव से (**उड्ढगई**) ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

भावार्थ - प्रत्येक जीव जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्मों का कर्त्ता है, सदेह परिणाम (जिस जन्म में जितना बड़ा या छोटा शरीर हो उस शरीर के बराबर) कर्मों के शुभाशुभ फलों को भोगने वाला, संसारी (त्रस व स्थावर आदि पर्याय धारण कर संसार में रहने वाला) सम्पूर्ण कर्मों का नाशकर सिद्ध पद प्राप्त करने वाला और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।

जीव के नौ अधिकार -1. जीवत्व अधिकार, 2. उपयोग अधिकार, 3. अमूर्तिक अधिकार, 4. कर्तृत्व अधिकार, 5. स्वदेह परिमाण अधिकार, 6. भोक्तृत्व अधिकार, 7. संसारित्व अधिकार, 8. सिद्धत्व अधिकार, 9. ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार।

यहाँ जीव की विशेषता का वर्णन है। प्रत्येक जीव उपर्युक्त गुणों से युक्त है। कोई दर्शनकार इनमें से कोई गुण मानता है तो कोई गुण नहीं मानता। जैसे- चार्वाक दर्शन - जीव द्रव्य को चेतना से युक्त नहीं मानता। नैयायिक दर्शन - मुक्त जीव को ज्ञान-दर्शन गुण से रहित मानते हैं। भट्ट व चार्वाक जीव को मूर्तिक मानते हैं। सांख्य दर्शन - आत्मा को कर्त्ता नहीं मानते। नैयायिक, मीमांसक व सांख्य ये सभी दर्शनकार आत्मा को शरीर प्रमाण न मानकर हृदयकमल में स्थित वटवृक्ष के बीज के जितना मानते हैं। बौद्ध दर्शन आत्मा को क्षणिक मानते हैं। सदाशिवमती आत्मा को सदा सर्वज्ञ व मुक्त मानते हैं। भट्ट व चार्वाक दर्शन आत्मा को सिद्ध नहीं मानते। इसलिए मिथ्यामतों का खण्डन करने के लिए इस गाथा में जीव के नौ विशेष गुणों का वर्णन किया है।

तिक्काले चदुपाणा, इंदियबलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो, णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥ 3॥

अन्वयार्थ - (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**जस्स**) जिसके (**तिक्काले**) तीन काल में (**चदुपाणा**) चार प्राण (**इंदियबलमाउ य आणपाणो**) इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास (**दु**) तथा (**णिच्छय णयदो**) निश्चय नय से (**जस्स**) जिसके (**चेदणा**) चेतना होती है (**सो जीवो**) वह जीव है।

भावार्थ – तीन काल में जिसके इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं व्यवहार नय से वह जीव है। निश्चय नय से जिसके चेतना है, वह जीव है।

तीनकाल – 1. भूतकाल, 2. वर्तमान काल, 3. भविष्यकाल।

प्राण– जिसके संयोग से ये जीव जीवन अवस्था को प्राप्त होता है और वियोग से मरण को प्राप्त होता है, उसे प्राण कहते हैं।

प्राण के दो भेद – 1. द्रव्य इन्द्रिय, 2. भाव इन्द्रिय।

मूलतः प्राण चार हैं – इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

विस्तार से प्राण के दस भेद –

पाँच इन्द्रियाँ– 1. स्पर्शन, 2. रसना, 3. घ्राण, 4. चक्षु और 5. कर्ण।

तीन बल – 1. कायबल, 2. वचन बल, 3. मनोबल।

श्वासोच्छ्वास और आयु ये दस प्राण होते हैं।

इन्द्रिय प्राण – द्रव्येन्द्रिय के निमित्त से उदय होने वाले क्षायोपशमिक भाव को इन्द्रिय प्राण कहते हैं।

बल प्राण – अनन्त शक्ति का एक भाग (अंश) मन, वचन व काय के निमित्त से उत्पन्न होने वाले बल को बल प्राण कहते हैं।

आयु प्राण– जिसके उदय से भव सम्बन्धी जीवन और क्षय से मरण होता है, उसे आयु प्राण कहते हैं।

श्वासोच्छ्वास प्राण– शरीर में किसी भी प्रकार की वायु के आवागमन को श्वासोच्छ्वास प्राण कहते हैं। जैसे – मुख से श्वास–उच्छ्वास का निकलना रोम छिद्रों से वायु का आना–जाना। नाड़ी (धमनी) का चलना इत्यादि।

एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के प्राण

एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण – 1. स्पर्शन इन्द्रिय, 2. रसना इन्द्रिय, 3. आयु, 4. श्वासोच्छ्वास।

दो इन्द्रिय जीव के छह प्राण – 1. स्पर्शन इन्द्रिय, 2. रसना इन्द्रिय, 3. कायबल, 4. वचनबल, 5. आयु, 6. श्वासोच्छ्वास।

तीन इन्द्रिय जीव के सात प्राण – 1. स्पर्शन इन्द्रिय, 2. रसना इन्द्रिय, 3. घ्राण इन्द्रिय, 4. कायबल, 5. वचनबल, 6. आयु, 7. श्वासोच्छ्वास।

चार इन्द्रिय जीव के आठ प्राण – 1. स्पर्शन इन्द्रिय, 2. रसना इन्द्रिय, 3. घ्राण इन्द्रिय, 4. चक्षु इन्द्रिय, 5. कायबल, 6. वचनबल, 7. आयु, 8. श्वासोच्छ्वास।

असंज्ञी (मन रहित) पञ्चेन्द्रिय जीव के नौ प्राण– 1. स्पर्शन इन्द्रिय, 2. रसना इन्द्रिय, 3. घ्राण इन्द्रिय, 4. चक्षु इन्द्रिय, 5. कर्ण इन्द्रिय, 6. कायबल, 7. वचनबल, 8. आयु, 9. श्वासोच्छ्वास।

संज्ञी (मन सहित) पञ्चेन्द्रिय जीव के दस प्राण – 1. स्पर्शन इन्द्रिय, 2. रसना इन्द्रिय, 3. घ्राण इन्द्रिय, 4. चक्षु इन्द्रिय, 5. कर्ण इन्द्रिय, 6. कायबल, 7. वचनबल, 8. मन बल, 9. आयु, 10. श्वासोच्छ्वास।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहंत भगवान् के कायबल, वचनबल आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में अरिहंत भगवान् के मात्र एक प्राण होता है व सिद्ध भगवान् के दस प्राणों में से एक भी प्राण नहीं होता। मात्र उनके चेतना ही होती है।

नय – वस्तु के अनेक धर्मों (गुणों) में से किसी एक धर्म (गुण) का विशेष कथन करने को नय कहते हैं।

निश्चय नय – वस्तु के शुद्ध स्वरूप के ग्रहण करने को निश्चय नय कहते हैं। उदाहरण– मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना।

व्यवहार नय – वस्तु के अशुद्ध स्वरूप के ग्रहण करने को व्यवहार नय कहते हैं। उदाहरण– मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना।

उपयोग अधिकार (दर्शनोपयोग के भेद)

उवओगो दुवियप्पो , दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही, दंसणमध केवलं णेयं॥ 4॥

अन्वयार्थ – **(उवओगो)** उपयोग **(दुवियप्पो)** दो प्रकार का है **(दंसण णाणं च)** दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग **(दंसणं चदुधा)** दर्शनोपयोग चार प्रकार का **(चक्खु अचक्खू ओही)** चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन **(अध केवलं दंसणं)** और केवलदर्शन **(णेयं)** जानना चाहिए।

भावार्थ – उपयोग जीव का सर्वश्रेष्ठ गुण है। जीव में स्व व पर को जानने और देखने योग्य जो विशेष शक्ति है, उसे उपयोग कहते हैं। वह उपयोग दो प्रकार का है– एक दर्शनोपयोग व दूसरा ज्ञानोपयोग। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ऐसे दर्शनोपयोग के चार भेद हैं।

उपयोग – जीव के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं।

दर्शनोपयोग – वस्तु का सामान्य अवलोकन करना अर्थात् विशेष (साकार) ज्ञान के पूर्व (पहले) सत्तावलोकन मात्र होता है, उसे दर्शनोपयोग कहते हैं।

ज्ञानोपयोग – जो वस्तु के विशेष अंग को ग्रहण करता है अर्थात् दर्शनोपरान्त विशेष, जानने को ज्ञानोपयोग कहते हैं।

चक्षुदर्शनोपयोग – ज्ञान के पूर्व (पहले) चक्षु (नेत्रों) द्वारा वस्तु का जो सामान्य प्रतिभास (अवलोकन) होता है, उसे चक्षुदर्शनोपयोग कहते हैं।

अचक्षुदर्शनोपयोग – चक्षु (नेत्र) इन्द्रिय को छोड़कर अन्य स्पर्शन, रसना, घ्राण, कर्ण और मन के द्वारा ज्ञान से पूर्व वस्तु का सामान्य प्रतिभास होता है, उसे अचक्षुदर्शनोपयोग कहते हैं।

अवधिदर्शनोपयोग – अवधिज्ञान से पूर्व जो वस्तु का सामान्य

प्रतिभास होता है, उसे अवधिदर्शनोपयोग कहते हैं।

केवलदर्शनोपयोग – केवलज्ञान के साथ होने वाला सामान्य प्रतिभास केवल दर्शन है।

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठवियप्पं, मदिसुद ओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि, पच्चक्ख परोक्ख भेयं च॥ 5॥

अन्वयार्थ-(**णाणं अट्ठवियप्पं**) ज्ञान आठ प्रकार का है (**मदिसुदओही**) मति, श्रुत, अवधि, (**अणाण णाणाणि**) अज्ञान और ज्ञानरूप अर्थात् अज्ञान रूप-कुमति, कुश्रुत, कुअवधि और ज्ञान रूप-मति, श्रुत, अवधि (**मणपज्जय**) मनःपर्ययज्ञान (**केवलमवि**) केवलज्ञान, ऐसे आठ भेद हैं। (**पच्चक्ख परोक्ख भेयं च**) वह ज्ञान प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद से दो प्रकार का भी है।

भावार्थ – ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है। अज्ञान रूप कुमति, कुश्रुत, और कुअवधि (विभंग) तथा ज्ञानरूप मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय और केवलज्ञान ये ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दो प्रकार के होते हैं।

ज्ञानोपयोग के आठ भेद – 1. कुमति ज्ञानोपयोग, 2. कुश्रुतज्ञानोपयोग, 3. कुअवधिज्ञानोपयोग, 4. मतिज्ञानोपयोग, 5. श्रुतज्ञानोपयोग, 6. अवधि-ज्ञानोपयोग, 7. मनःपर्यय ज्ञानोपयोग, 8. केवलज्ञानोपयोग।

अज्ञान के तीन भेद- 1. कुमति, 2. कुश्रुत, 3. कुअवधि।

मिथ्यात्व के उदय से होने वाले ज्ञान को कुज्ञान कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद – 1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मनःपर्ययज्ञान, 5. केवलज्ञान।

मतिज्ञान – यथायोग्य इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है।

श्रुतज्ञान – मतिज्ञान पूर्वक होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञान से होने वाले ज्ञान को विशेष रूप से जानना श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञान – इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा पूर्वक जो ज्ञान रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान – इन्द्रियादि बाह्य निमित्त के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इनकी मर्यादा पूर्वक जो दूसरे व अपने मन में स्थित रूपी पदार्थों को जो स्पष्ट जानता है, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान – तीनलोक तीनकालवर्ती समस्त द्रव्य और उनकी अनंत पर्यायों को एक ही समय (युगपत्) में जो ज्ञान जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

प्रत्यक्षज्ञान – इन्द्रियादि की सहायता के बिना मात्र आत्मा के द्वारा होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं।

परोक्षज्ञान – इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्षज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञान व श्रुतज्ञान ये दोनों परोक्षज्ञान हैं। अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान ये दोनों देश प्रत्यक्षज्ञान हैं तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्षज्ञान है। इस प्रकार कुमति व कुश्रुत ये दोनों कुज्ञान परोक्ष हैं तथा कुअवधि देशप्रत्यक्ष है।

नय की अपेक्षा जीव के लक्षण

अट्ठचदुणाण दंसण, सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया, सुद्धं पुण दंसणं णाणं॥6॥

अन्वयार्थ – (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**अट्ठ णाण**) आठ प्रकार का ज्ञान (**चदु दंसण**) चार प्रकार का दर्शन (**सामण्णं**) सामान्य से (**जीवलक्खणं**) जीव का लक्षण (**भणियं**) कहा गया है (**पुण**) और (**सुद्धणया**) शुद्ध निश्चय नय से (**सुद्धं दंसणं णाणं**) शुद्धदर्शन व शुद्धज्ञान जीव का लक्षण है।

भावार्थ – गाथा नं. 3 में जीव के लक्षण प्राण की अपेक्षा से दिये गये

हैं और यहाँ इस गाथा में उपयोग की अपेक्षा से दिये हैं। व्यवहार नय से यथायोग्य आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन जीव का लक्षण है। किन्तु शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध ज्ञान शुद्ध जीव का लक्षण है।

व्यवहार नय – जो बुद्धि, पर्याय, भेद और संयोग इनको विषय करता है, उसे व्यवहार नय कहते हैं।

शुद्ध निश्चय नय – जो अभिप्राय अखण्ड निरपेक्ष त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को जानता है, उसे शुद्ध निश्चय नय कहते हैं।

जीव का मूर्तिक और अमूर्तिक रूप

वण्ण रस पंच गंधा, दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो॥ 7॥

अन्वयार्थ – (**णिच्छया**) निश्चय नय से (**जीवे**) जीव में (**पंच वण्ण रस दो गंधा अट्ठ फासा**) पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श (**णो**) नहीं (**संति**) हैं (**तदो**) इसलिए (**अमुत्ति**) जीव अमूर्तिक है (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**बंधादो**) कर्म बन्ध होने के कारण (**मुत्ति**) जीव मूर्तिक है।

भावार्थ – निश्चय नय से पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, और आठ प्रकार के स्पर्श ये सब गुण निश्चय ही जीव में नहीं हैं इसलिए वह अमूर्तिक हैं परन्तु व्यवहार नय से कर्मबन्ध होने की अपेक्षा वह मूर्तिक हैं।

मूर्तिक – जिसमें स्पर्श, रस, गंध व वर्ण पाये जाते हैं, उसे मूर्तिक कहते हैं।

अमूर्तिक– जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण नहीं होते, उसे अमूर्तिक कहते हैं।

जीव मूर्तिक और अमूर्तिक – संसारी जीव व्यवहार नय से मूर्तिक है, क्योंकि वह अनादिकाल से कर्मबन्ध से सहित है। कर्म पुद्गल है और पुद्गल मूर्तिक है। मूर्तिक पुद्गल के सम्बन्ध में होने से आत्मा को भी मूर्तिक

कहा जाता है। निश्चय नय से जीव अमूर्तिक है, क्योंकि उसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण नहीं है। सिद्ध भगवान् की आत्मा अमूर्तिक है। कारण वे पुद्गल कर्मबन्ध से रहित है।

कर्त्ता अधिकार का वर्णन

पुग्गलकम्मादीणं, कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं॥ 8॥

अन्वयार्थ – (**आदा**) आत्मा (**ववहारदो**) व्यवहार नय से (**पुग्गल कम्मादीणं कत्ता**) पुद्गल कर्मादि का कर्त्ता है (**णिच्छयदो**) अशुद्ध निश्चयनय से (**चेदण कम्माण**) चेतन कर्मों का कर्त्ता है (**सुद्धणया**) शुद्ध निश्चयनय (**सुद्धभावाणं**) शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

भावार्थ – जीव व्यवहार नय से ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मों का, इसी प्रकार औदारिक शरीरादिक नोकर्मों का कर्त्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से राग–द्वेषादि भावकर्म का और शुद्धनिश्चय नय से शुद्ध दर्शन (केवलदर्शन) शुद्धज्ञान (केवलज्ञान) आदि भावों का कर्त्ता है।

कर्त्ता – जो कार्यरूप में अर्थात् विशेष परिणामरूप से परिणमन करता है, उसे कर्त्ता कहते हैं।

पुद्गलादि कर्म – ज्ञानावरणादि आठ कर्म, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर के योग्य नोकर्म और आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छह पर्याप्तियों के योग्य ऐसे नोकर्म रूप पुद्गल का ग्रहण करना व इसी प्रकार व्यवहारिक दृष्टि से घट, कपड़े, घर, टेबिल, कुर्सी आदि बाह्य पदार्थों को ग्रहण करना।

ववहारा सुहदुक्खं, पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो, चेदणभावं खु आदस्स॥ 9॥

अन्वयार्थ - (**आदा**) आत्मा (**ववहारा**) व्यवहारनय से (**सुह-दुक्खं**) सुख-दुःख रूप (**पुग्गलकम्मप्फलं**) पुद्गल कर्म के फल को (**पभुंजेदि**) भोगता है (**खु**) और (**णिच्छयणयदो**) निश्चयनय से (**आदस्स चेदणभावं**) आत्मा अपने चेतन भाव को भोगता है।

भावार्थ - जो जैसे कर्म करता है वह उसी प्रकार कर्मों को भोक्ता है। जीव व्यवहारनय से इष्ट और अनिष्ट लगने वाले इन्द्रिय विषय से प्राप्त सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों का तथा निश्चय नय से अपने चेतन भावों का भोक्ता है।

भोक्ता - पदार्थों का भोक्ता, अनुभव करने वाले को भोक्ता कहते हैं।

सुख - साता वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा की आल्हाद रूप (आनन्द) परणति अथवा निराकुल परणति को सुख कहते हैं।

दुःख - असाता वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा में वेदना (पीड़ा) रूप परणति को दुःख कहते हैं।

स्वदेह परिमाणाधिकार

अणुगुरु देहपमाणो, उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा, णिच्छयणयदो असंखदेसो वा॥ 10॥

अन्वयार्थ - (**चेदा**) आत्मा (**व्यवहारा**) व्यवहार नय से (**असमुहदो**) समुद्घात के सिवाय अन्य सब समयों में (**उवसंहारप्पसपदो**) संकोच विस्तार गुण होने के कारण (**अणुगुरुदेह पमाणो**) अपने छोटे बड़े शरीर के प्रमाण है (**वा**) और (**णिच्छय-णयदो**) निश्चय नय से (**असंखदेसो**) असंख्यात प्रदेशी है।

भावार्थ - व्यवहारनय से जीव संकोच और विस्तार स्वभावी होने के कारण समुद्घात रहित अवस्था में शरीर नामकर्म के उदय से छोटे-बड़े शरीर प्रमाण आकार धारण करता है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश छोटे-बड़े घड़े

में तथा छोटे-बड़े कमरे में संकोच विस्तार को प्राप्त होता है उसी प्रकार आत्मा के प्रदेश छोटे-बड़े शरीर में संकोच-विस्तार को प्राप्त होते हैं किन्तु निश्चय नय से जीव असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश प्रमाण है।

अणु-गुरु-देह- 'अणु देह' शब्द से लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीव जानना चाहिए, क्योंकि संसार में इनके सबसे छोटा शरीर होता है।

समुद्घात - मूल शरीर को न छोड़कर आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर फैलना समुद्घात कहलाता है।

समुद्घात के सात प्रकार हैं-1. वेदना समुद्घात, 2. कषाय समुद्घात, 3. विक्रिया समुद्घात, 4. मारणान्तिक समुद्घात, 5. तैजस समुद्घात, 6. आहारक समुद्घात, 7. केवली समुद्घात।

1. वेदना समुद्घात - तीव्र वेदना (दुःख) होने पर मूल शरीर को न छोड़कर आत्म प्रदेश का बाहर फैलना वेदना समुद्घात कहलाता है।

2. कषाय समुद्घात - क्रोधादि तीव्र कषाय के उदय में मूल शरीर को न छोड़ते हुए आत्म प्रदेश का शरीर से बाहर निकलना ये कषाय समुद्घात कहलाता है।

3. विक्रिया समुद्घात - विविध प्रकार की विक्रिया करने के लिए मूल शरीर को न छोड़ते हुए आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना विक्रिया समुद्घात होता है। ये समुद्घात देवों और नारकियों में होता है तथा विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियों को भी होता है।

4. मारणान्तिक समुद्घात - मृत्यु के समय मूल शरीर को न छोड़ते हुए जहाँ नया जन्म लेना है उस स्थान का स्पर्श करने के लिए आत्म प्रदेशों के बाहर निकलने को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।

5. तैजस समुद्घात - संयमी महामुनियों को विशेष करुणा भाव उत्पन्न होने पर अथवा तीव्र क्रोध उत्पन्न होने पर उनके बाँये या दाँये कन्धे से तैजस शरीर का एक पुतला निकलता है, उसी के साथ आत्म प्रदेश बाहर निकलते हैं। ये तैजस समुद्घात है। दाँये कन्धे से निकला हुआ शुभ तैजस शरीर सफेद रंग का सुन्दर आकार वाला होता है।

बाँये कन्धे से निकला हुआ तैजस शरीर सिन्दूर जैसा लाल रंग का बिलाव के आकार का होता है।

6. आहारक समुद्घात – छट्ठे गुणस्थानवर्ती ऋद्धिधारी मुनि को तत्त्व में कुछ शंका उत्पन्न होने पर उनके तपोबल से मूल शरीर को न छोड़ते हुए मस्तक में से एक हाथ प्रमाण का पुरुषाकार सफेद स्फटिक के समान पुतला निकलकर केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में जाकर अपनी शंका का समाधान कर अन्तर्मुहूर्त में वापस मूल शरीर में आ जाता है, इसे आहारक समुद्घात कहते हैं। तीर्थवंदना व संयम की रक्षा के लिए यह समुद्घात होता है।

7. केवली समुद्घात – आयु कर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर वेदनीय, नाम और गोत्र ये तीन अघाति कर्मों की स्थिति आयुकर्म के बराबर करने के लिए केवली भगवान् के आत्मप्रदेश मूल शरीर से बाहर निकलते हैं। इसे केवली समुद्घात कहते हैं।

समुद्घात में लगने वाला समय – केवली समुद्घात में आठ समय लगते हैं और शेष छह समुद्घात के लिए अन्तर्मुहूर्त जितना समय लगता है।

संसारी जीवाधिकार

पुढविजलतेउवाऊ, वणप्फदी विविह थावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा, तसजीवा होंति संखादी॥ 11॥

अन्वयार्थ – (**पुढविजलतेउवाऊवणप्फदी**) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक (**विविह थावरे इंदी होंति**) विविध प्रकार के एकेन्द्रिय, स्थावर जीव हैं (**संखादी विगतिगचदुपंचक्खा**) शंख आदि द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय, भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय और मनुष्यादि पंचेन्द्रिय जीव (**तसजीवा**) त्रस जीव हैं।

भावार्थ – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये अनेक प्रकार के स्थावर जीव हैं और ये एक इन्द्रिय अर्थात् स्पर्श इन्द्रिय के धारक होते हैं। शंखादि दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय के धारक त्रस जीव होते हैं।

संसारी जीव – जो कर्मों से सहित होकर संसार में जन्म-मरण करते

हैं, उन्हें संसारी जीव कहते हैं। इनके दो भेद हैं- 1. स्थावरजीव, 2. त्रसजीव।

स्थावर जीव - स्थावर नामकर्म के उदय से पृथ्वी, जलादि जिनके शरीर होते हैं, उन्हें स्थावर जीव कहते हैं। इन जीवों को मात्र एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है।

स्थावर जीव के पाँच भेद -1. पृथ्वीकायिक, 2. जलकायिक, 3. अग्निकायिक, 4. वायुकायिक, 5. वनस्पतिकायिक।

त्रस जीव - त्रस नामकर्म के उदय से मिलने वाली जीव की विशेष अवस्था को त्रस जीव कहते हैं। इसके चार भेद हैं-1. दो इन्द्रिय, 2. तीन इन्द्रिय, 3. चार इन्द्रिय, 4. पाँच इन्द्रिय।

चौदह जीवसमास

समणा अमणा णेया, पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादर सुहुमेइंदी, सव्वे पज्जत्त इदरा य॥ 12॥

अन्वयार्थ - **(पंचिंदिय समणा)** पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और **(अमणा णेया)** असंज्ञी होते हैं **(परे सव्वे णिम्मणा)** शेष सभी जीव याने एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय जीव असंज्ञी हैं। **(एइंदी बादर सुहुम)** एकेन्द्रिय जीव बादर व सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं **(सव्वे पज्जत्त इदरा य)** ये सब सातों प्रकार के जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक हैं। इस प्रकार ये 14 जीवसमास हैं।

भावार्थ - पञ्चेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकार के होते हैं। शेष एकेन्द्रिय आदिक चार प्रकार के असंज्ञी ही होते हैं। एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म ऐसे दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय ये सब पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं, इन्हें चौदह जीवसमास कहते हैं।

संज्ञी व असंज्ञी - जिनके मन होता है, उपदेशादि ग्रहण करने, हित -अहित का निर्णय करने की योग्यता होती है, वे संज्ञी होते हैं और जिनके मन नहीं होता, उपदेशादि ग्रहण करने की योग्यता न होने के कारण हित-अहित का निर्णय करने की योग्यता नहीं होती, वे असंज्ञी कहलाते हैं।

मन दो प्रकार के होते हैं- 1. द्रव्यमन, 2. भाव मन।

द्रव्यमन - जो हृदय स्थान में आठ पाँखुड़ियों के आकार है, उसी प्रकार अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा का स्कन्ध बनता है, उसे द्रव्य मन कहते हैं।

भावमन - संकल्प-विकल्प रूप, गुण-दोष विचार रूप, चिन्तन इसी प्रकार स्मृति आदि रूप को भाव मन कहते हैं।

संज्ञी व असंज्ञी जीव - देव, नारकी और मनुष्य संज्ञी पञ्चेन्द्रिय ही होते हैं परन्तु तिर्यञ्च संज्ञी और असंज्ञी दोनों होते हैं।

बादर जीव - जो स्वयं दूसरों के द्वारा रोके जाते हैं और दूसरों को रोकते हैं, उन्हें बादर जीव कहते हैं।

सूक्ष्म जीव - जो दूसरों के द्वारा बाधित नहीं होते और किसी को बाधा नहीं करते, उसे सूक्ष्म जीव कहते हैं।

पर्याप्तक जीव - जो जीव पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से अपने योग्य छह, पाँच, चार पर्याप्तियों को पूर्ण करता है, उसे पर्याप्तक कहते हैं।

अपर्याप्तक जीव - जो जीव अपर्याप्त नामकर्म के उदय से पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं कर सके, उन्हें अपर्याप्तक कहते हैं।

निर्वृत्त्यपर्याप्तक - जिस जीव के शरीर की पर्याप्ति अभी पूर्ण नहीं हुई है परन्तु नियम से पूर्ण होगी, उसे निर्वृत्त्यपर्याप्तक कहते हैं।

लब्ध्यपर्याप्तक - जिस जीव की एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई और होगी भी नहीं, उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं।

पर्याप्ति - गृहीत आहारवर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा इनके परमाणु खल, रक्त, रस, भाषा व मन वगैरह रूप बनने की जीव की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं।

पर्याप्ति के छह भेद हैं -1. आहार पर्याप्ति, 2. शरीर पर्याप्ति, 3. इन्द्रिय पर्याप्ति, 4. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, 5. भाषा पर्याप्ति, 6. मन पर्याप्ति।

1. आहार पर्याप्ति – एक शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीर के साधनभूत ऐसे जो नोकर्म वर्गणा जीव ग्रहण करता है वह खल व रस भाग रूप (पतला) बनाने की शक्ति की पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते हैं।

2. शरीर पर्याप्ति – गृहीत नोकर्म के स्कन्ध में से खल भाग से हाड़ (हड्डी) आदि रूप कठोर अवयव रूप इसी प्रकार रस भाग से रक्त आदि रूप द्रव्य अवयव रूप बनने की शक्ति की पूर्णता को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

3. इन्द्रिय पर्याप्ति – गृहीत नोकर्म वर्गणा के स्कन्ध में से योग्य स्थान पर द्रव्येन्द्रिय (इन्द्रियाकार) आकार रूप बनने की कारणभूत शक्ति की पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

4. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति – उन नोकर्म वर्गणा के कुछ स्कन्ध के श्वासोच्छ्वास रूप बनने की कारणभूत शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

5. भाषा पर्याप्ति – वचनरूप होने योग्य भाषा वर्गणा के वचन रूप (शब्दरूप) बनने की कारणभूत शक्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं।

6. मन पर्याप्ति – द्रव्यमन रूप बनने योग्य मनोवर्गणा के द्रव्यमन रूप (आठ पाँखुड़ियों के कमल प्रमाण) बनने की शक्ति की पूर्णता को मन पर्याप्ति कहते हैं।

जीवों की पर्याप्ति – एकेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्ति होती हैं। विकलत्रय (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय) और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनः पर्याप्ति छोड़कर पाँच पर्याप्ति होती हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के छह पर्याप्ति होती हैं।

जीव समास – जिसके द्वारा अनेक जीव तथा उनके अनेक प्रकार की जाति जानने में आती है, उन्हें जीवसमास कहते हैं।

ये चौदह होते हैं –

1. बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त
2. बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त
3. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त

4. सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त
5. द्वीन्द्रिय पर्याप्त
6. द्वीन्द्रिय अपर्याप्त
7. त्रीन्द्रिय पर्याप्त
8. त्रीन्द्रिय अपर्याप्त
9. चतुरिन्द्रिय पर्याप्त
10. चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त
11. असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त
12. असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त
13. संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त
14. संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त

सिद्ध भगवान् जीवसमास से रहित होते हैं।

मार्गणा और गुणस्थान अपेक्षा से जीव के भेद

मग्गणगुणठाणेहि य, चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥ 13॥

अन्वयार्थ – (**तह संसारी**) तथा संसारी जीव के (**असुद्धणया**) अशुद्धनय से (**मग्गण य गुणठाणेहि चउदसहि हवंति**) मार्गणा व गुणस्थानों की अपेक्षा चौदह-चौदह भेद होते हैं (**हु**) किन्तु (**सुद्धणया**) शुद्धनय से (**सव्वे**) सभी जीव (**सुद्धा**) शुद्ध (**विण्णेया**) जानना चाहिए।

भावार्थ – निश्चय नय से तो शुद्ध जीव शुद्ध ही हैं, परन्तु संसारी जीव भी शुद्ध है क्योंकि निश्चय नय मात्र शुद्ध द्रव्य को ही ग्रहण करता है परन्तु मिश्रित अवस्था में ग्रहण नहीं करता। कारण कि नय के प्रतिपादित विषय शुद्ध नय ही होते हैं। संसारी जीव व्यवहार नय से मार्गणा और गुणस्थान की अपेक्षा से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं परन्तु निश्चय नय से सब जीव शुद्ध ही हैं।

मार्गणा – जिसके द्वारा अथवा जिससे जीवों का अन्वेषण (शोध) खोज करने में आता है अर्थात् जीवों की खोज की जाती है, उसे मार्गणा कहते

हैं ये चौदह हैं।

गइ इंदिये च काये, जोगे वेये कसाय णाणे य।

संजम दंसण लेस्सा, भविया सम्मत सण्णि आहारे॥

अर्थ- गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार ये चौदह मार्गणा हैं। (गो.जी. 142)

गुणस्थान - मोह और योग के निमित्त से आत्मा में होने वाले परिणाम तारतम्यरूप (चढ़ाव-उतार) अवस्था विशेष को गुणस्थान कहते हैं, ये चौदह होते हैं-

1. मिथ्यात्व, 2. सासादन, 3. मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व), 4. अविरत सम्यक्त्व, 5. देशविरत, 6. प्रमत्तविरत, 7. अप्रमत्तविरत, 8. अपूर्वकरण, 9. अनिवृत्तिकरण, 10. सूक्ष्मसाम्पराय, 11. उपशान्तमोह, 12. क्षीणमोह, 13. सयोग केवली, 14. अयोग केवली।

1. मिथ्यात्व - मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्त्वों पर अश्रद्धान रूप परिणाम होना मिथ्यात्व गुणस्थान है।

2. सासादन - स-आसादन अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना से युक्त जो होता है, वह सासादन कहलाता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इनमें से कोई भी एक कषाय के उदय से जीव सम्यक्त्व से छूटने के बाद और मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से पहले बीच के समय में जो परिणाम होते हैं, वह सासादन गुणस्थान कहलाता है।

3. मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) - सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के तत्त्व विषय सम्बन्धी श्रद्धारूप व अश्रद्धारूप ऐसे दोनों प्रकार के श्रद्धान होते हैं, उसे मिश्र अथवा सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। जैसे - दही और गुड़ के मिश्रण का स्वाद होता है।

4. अविरत सम्यक्त्व - दर्शनमोहनीय के तीन और अनन्तानुबन्धी के चार ऐसे सात प्रकृति के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के सम्यक्त्व सहित और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इनके उदय से जीव के व्रत

रहित परिणाम को अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान कहते हैं।

5. देशविरत – अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इनका उदय न होने से ये जीव हिंसादि पाँच पापों का एकदेश (स्थूल रूप से) त्याग करता है, उसे देशविरत गुणस्थान कहते हैं। ऐसा जीव त्रस जीवों का घात नहीं करता। परन्तु स्थावर हिंसा का त्याग न होने से इस गुणस्थान को संयमासंयम गुणस्थान भी कहते हैं।

6. प्रमत्तविरत – प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के अभाव में पूर्ण संयम तो धारण किया है परन्तु अभी संज्वलन और नो कषाय कर्म के उदय से संयम में दोष उत्पन्न होने से प्रमादरूप परिणाम होते हैं। इसलिए इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं। जैसे– 6 वें गुणस्थानवर्ती मुनि के आचरण में प्रमाद वश लगे अतिचार आदि दोष। मुनि 6 वें व 7 वें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त काल में कई बार उतरते चढ़ते रहते हैं। इस समय में 6 वें गुणस्थान में आने पर आचरण में दोष उत्पन्न होवे ही ऐसा नियम नहीं है।

7. अप्रमत्त विरत – संज्वलन कषाय के मंद उदय होने से, होने वाली अवस्था को अप्रमत्त विरत गुणस्थान कहते हैं।

8. अपूर्वकरण – करण इसका अर्थ परिणाम होता है। पहले कभी भी प्राप्त न होने वाले अपूर्व परिणामों को धारण करना। जहाँ चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय करने के लिए उत्तरोत्तर अपूर्व परिणामों का होना, उसे अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं।

9. अनिवृत्तिकरण – अ=नहीं, निवृत्ति=भेद, करण=परिणाम जहाँ समसमयवर्ती मुनियों के परिणामों में भेद नहीं होते उस परिणाम को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं। जहाँ सभी समान समयवर्ती मुनियों के परिणाम की विशुद्धि एक समान होती है।

10. सूक्ष्मसाम्पराय – साम्पराय का अर्थ है – कषाय। इस गुणस्थान में अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में प्राप्त केवल लोभ कषाय का उदय होता है, उसे सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान कहते हैं।

11. उपशान्तमोह – समस्त मोहनीय कर्मों का उपशम होने पर उत्पन्न होने वाले गुणस्थान को उपशान्तमोह गुणस्थान कहते हैं।

12. क्षीणमोह – मुनि के समस्त मोहनीय कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा के विशुद्ध परिणामों को क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं।

13. सयोग केवली – चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने पर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य ऐसे अनन्त चतुष्टय प्राप्त होने पर जो योग सहित प्रवृत्ति होती है, उसे सयोग केवली गुणस्थान कहते हैं।

14. अयोग केवली – सिद्ध होने से पहले योग रहित अवस्था को अयोग केवली कहते हैं। अयोग केवली का काल केवल पाँच ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) इनके उच्चारण में जितना समय लगता है उतना ही होता है। इसके बाद तो मुक्त आत्मा लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाती है, उन्हें सिद्ध जीव कहते हैं। उनके कोई भी गुणस्थान नहीं होता।

सिद्धत्व और ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार

णिक्कम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पादवएहिं संजुत्ता॥ 14॥

अन्वयार्थ – **(सिद्धा णिक्कम्मा)** सिद्ध भगवान् अष्ट कर्मों से रहित हैं **(अट्ठगुणा)** अष्टगुणों से सहित हैं **(चरमदेहदो)** अन्तिम शरीर से **(किंचूणा)** कुछ कम हैं तथा **(लोयग्गठिदा)** ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित हैं **(णिच्चा)** नित्य हैं और **(उप्पादवएहिं संजुत्ता)** उत्पाद और व्यय से संयुक्त हैं।

भावार्थ – ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सहित, अंतिम शरीर की अपेक्षा किञ्चित् कम आत्मप्रदेशों से युक्त जीव को सिद्ध कहते हैं। ये सिद्धत्व अधिकार है। ये सिद्ध अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग पर तनुवातवलय में सिद्धशिला पर स्थित हैं। धर्मद्रव्य के अभाव में आगे अलोकाकाश में गमन रहित होते हैं तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित होते हैं। ये ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार है।

कर्म आठ हैं – 1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र, 8. अन्तराय।

कर्म – जीव के राग-द्वेषादि परिणामों के निमित्त से कार्माण वर्गणारूप जो पुद्गल स्कन्धों का आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध होकर कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।

1. ज्ञानावरण कर्म – जिस कर्म के उदय से आत्मा के ज्ञान गुण प्रकट नहीं होते, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

2. दर्शनावरण कर्म – जो कर्म आत्मा का दर्शन गुण प्रकट नहीं होने देता, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं।

3. वेदनीय कर्म – जो कर्म आत्मा को सुख-दुःख का वेदन कराता है अथवा अनुभव कराता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

4. मोहनीय कर्म – जिस कर्म से आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुणों का घात होता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

5. आयु कर्म – जिस कर्म के उदय से आत्मा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव गति में रुकता (ठहरता) है, उसे आयु कर्म कहते हैं।

6. नाम कर्म – जिस कर्म उदय से गति, जाति तथा शरीर वगैरह की संरचना होती है, उसे नामकर्म कहते हैं।

7. गोत्र कर्म – जिस कर्म के उदय से जीव (आत्मा) को ऊँच-नीच कुल में जन्म प्राप्त होता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं।

8. अन्तराय कर्म – जिस कर्म के उदय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (शक्ति)। इनमें विघ्न (बाधा) उत्पन्न होते हैं, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

कर्मनाश का क्रम – प्रथम मोहनीय कर्म का क्षय होता है। तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों का एक ही समय में क्षय होता है तथा बाद में चारों कर्मों का एक ही समय में क्षय होता है।

आठों ही कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा सिद्ध परमात्मा बन जाती है। आठ कर्मों का नाश होने पर आठ गुण प्राप्त हो जाते हैं। वह इस प्रकार हैं-

मोहनीय कर्म के नाश होने पर	क्षायिक सम्यक्त्व
ज्ञानावरण कर्म के नाश होने पर	केवलज्ञान
दर्शनावरण कर्म के नाश होने पर	केवलदर्शन
अन्तराय कर्म के नाश होने पर	अनन्तवीर्य
नामकर्म के नाश होने पर	सूक्ष्मत्व गुण
आयुकर्म के नाश होने पर	अवगाहनत्व गुण
गोत्रकर्म के नाश होने पर	अगुरुलघुत्व गुण
वेदनीय कर्म के नाश होने पर	अव्याबाधत्व गुण

सिद्ध भगवंतों के गुण –

1. **अनन्त ज्ञान** – परिपूर्ण, अनुपम, विशुद्ध सभी पदार्थों को जानने वाले।

2. **अनन्त दर्शन** – किसी भी सहायता के बिना समस्त मूर्त–अमूर्त द्रव्यों को सामान्य रूप से देखना (अवलोकन करना)।

3. **अनन्तवीर्य** – अप्रतिम सामर्थ्य का प्राप्त होना।

4. **सम्यक्त्व** – समस्त जीवादि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) रहित परिणति से युक्त। (इसमें सम्यक्त्वचारित्र और अनन्त सुख का समावेश है।)

5. **सूक्ष्मत्व** – केवलज्ञान के द्वारा गम्य अमूर्त प्रदेशात्मक।

6. **अवगाहनत्व** – जहाँ एक सिद्ध होते हैं वहाँ अनन्त सिद्धों का समाविष्ट होता है।

7. **अगुरुलघुत्व** – सिद्धों में छोटे–बड़े पने का अभाव।

8. **अव्याबाधत्व** – वेदनीय कर्म के अभाव में होने वाली अनन्त सुख रूप आनन्दमय सामर्थ्य।

सिद्ध– पूर्ण विकास को प्राप्त आठ कर्मों से रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सहित परमात्मा को सिद्ध कहते हैं।

उत्पाद – द्रव्य में नई पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं। जैसे–

कोई मनुष्य मरकर देव पर्याय में उत्पन्न हुआ उसे देव गति का उत्पाद कहते हैं।

व्यय – द्रव्य की पूर्व पर्याय के अभाव को व्यय कहते हैं।

ध्रौव्य – पूर्व और उत्तर पर्याय में द्रव्य की नित्यता (अस्तित्व) का होना ध्रौव्य कहलाता है। उदाहरण – मनुष्य पर्याय का व्यय हुआ और देव पर्याय का उत्पाद हुआ इन दोनों ही पर्याय में जीव द्रव्य का अस्तित्व है। इस कारण इसे ध्रौव्य कहते हैं।

अजीव के भेद

अज्जीवो पुण णेओ, पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गलमुत्तो, रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु॥ 15॥

अन्वयार्थ – (**पुण**) और (**पुग्गल**) पुद्गल (**धम्मो**) धर्म (**अधम्म**) अधर्म (**आयासं**) आकाश (**कालो**) काल द्रव्य (**अज्जीवो**) अजीव द्रव्य (**णेयो**) जानना चाहिए। इनमें (**रूवादि-गुणो**) रूपादि गुणों से युक्त (**पुग्गल**) पुद्गल द्रव्य (**मुत्तो**) मूर्तिक है (**दु**) परन्तु (**सेसा**) शेष चार द्रव्य (**अमुत्ति**) अमूर्तिक हैं।

भावार्थ – अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुणों से युक्त व मूर्तिक है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य अमूर्तिक हैं। कारण कि इनमें रूपादि गुण नहीं होते।

पुद्गल – पुद्+गल, पुद्=मिलना/जोड़ना, गल= गलना/टूटना। जिसके परमाणु मिलते और बिखरते अथवा जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पाये जाते हैं, उसे पुद्गल कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य के दो भेद – 1. परमाणु (अणु), 2. स्कन्ध।

परमाणु (अणु) – पुद्गल के सबसे छोटे (अविभागी) अंश को परमाणु अथवा अणु कहते हैं। वह इतना छोटा होता है कि रूपवान होते हुए भी अपने चक्षु (नेत्रों) से नहीं दिखता।

स्कन्ध – दो या दो से अधिक पुद्गल परमाणु मिलकर स्कन्ध बनता है। जिसमें स्थूल रूप से पकड़ने, रखने वगैरह की क्रिया होती है।

मूर्तिक – जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये गुण होते हैं, उसे मूर्तिक कहते हैं।

अमूर्तिक – जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये गुण नहीं हैं, उसे अमूर्तिक कहते हैं।

मूर्तिक और अमूर्तिक द्रव्य – पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और बाकी के जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये द्रव्य अमूर्तिक हैं।

पुद्गल के बीस गुण –

स्पर्श के आठ –1. हल्का(रुई), 2. भारी (लोहा), 3. रुखा (रेत), 4. स्निग्ध (घी), 5. कठोर (पत्थर), 6. मृदु (रेशम), 7. ठंडा (पानी), 8. गरम (अग्नि)।

रस पाँच– 1. मीठा (शक्कर), 2. कड़वा (करेला), 3. कषायला (आंवला), 4. खट्टा (नींबू), 5. चरपरा (तीखा)।

गन्ध दो – 1. सुगन्ध, 2. दुर्गन्ध।

वर्ण पाँच – 1. काला, 2. पीला, 3. नीला, 4. लाल और 5. सफेद।

इस प्रकार आठ स्पर्श, पाँच रस, दो गन्ध, पाँच वर्ण ये सब पुद्गल के 20 गुण हैं।

पुद्गल द्रव्य की पर्याय

सद्दो बंधो सुहुमो, थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया, पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥ 16॥

अन्वयार्थ – (**सद्दो**) शब्द (**बंधो**) बंध (**सुहुमो**) सूक्ष्म (**थूलो**) स्थूल (**संठाण**) संस्थान (**भेद**) भेद (**तम**) अन्धकार (**छाया**) छाया (**उज्जोद**) उद्योत (**आदवसहिया**) आतप सहित (**पुग्गलदव्वस्स पज्जाया**) पुद्गल द्रव्य की पर्यायें होती हैं।

भावार्थ – शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, उद्योत और आतप, ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

पर्याय – गुण की अवस्था अथवा परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। इसके दो भेद हैं – 1. अर्थ पर्याय, 2. व्यञ्जन पर्याय।

अर्थ पर्याय – अगुरुलघु गुण के निमित्त से होने वाली षड्गुण हानि–वृद्धिरूप अन्तः परिणमन को अर्थपर्याय कहते हैं। ये अर्थपर्याय सूक्ष्म है तथा वचन से कही नहीं जा सकती।

षड्गुणहानिवृद्धि – अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि, अनन्तगुण वृद्धि, अनन्तभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि इनको षड्गुण हानिवृद्धि कहते हैं।

व्यञ्जन पर्याय – गुणों की व्यक्त अवस्था को व्यञ्जन पर्याय कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य की दस प्रकार की अवस्था –

1. शब्द – भाषा वर्गणा के तथा स्कन्ध के संयोग–वियोग के कारण से जो ध्वनिरूप परिणमन होता है, उसे शब्द कहते हैं।

2. बन्ध – दो या अनेक पदार्थों का परस्पर एकपना (मिलना) होने को बन्ध कहते हैं। जो स्कन्ध दिखते हैं उसमें बन्ध पर्याय है वह पौद्गलिक बन्ध है। कर्म और शरीर का बन्ध भी पौद्गलिक है।

3. सूक्ष्म – अल्प परिमाण को सूक्ष्म कहते हैं। जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है जो किसी को बाधा नहीं करते और बाधित भी नहीं होते वे सूक्ष्म हैं।

4. स्थूल – बड़े परिमाण को स्थूल कहते हैं। जो दूसरों को बाधा करते हैं और स्वयं भी बाधित होते हैं।

5. संस्थान – मूर्तिक पदार्थ के आकार को संस्थान कहते हैं।

6. भेद – वस्तु के अलग–अलग कणों को भेद कहते हैं। जैसे आटे के कण। हल्दी, चटनी के कण वगैरह को भेद कहते हैं।

7. तम – जो दृष्टि को बाधा देता है ऐसे अन्धकार को तम कहते हैं।

8. छाया – कोई पदार्थ के निमित्त से प्रकाश युक्त अथवा स्कन्ध पदार्थ पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को छाया कहते हैं। उदाहरण– वृक्ष की पृथ्वी पर पड़ने वाली परछाई या शीशे में व्यक्ति का प्रतिबिम्ब।

9. उद्योत – ज्यादा उजाला उत्पन्न न करने वाले विशेष प्रकाश को उद्योत कहते हैं। जैसे – चन्द्रप्रकाश, जुगनु आदि।

10. आतप – जो सूर्य के निमित्त से गर्म प्रकाश होता है, उसे आतप कहते हैं।

धर्म द्रव्य का स्वरूप

गइ परिणयाण धम्मो, पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं, अच्छंता णेव सो णेई॥ 17॥

अन्वयार्थ–(**गइपरिणयाण**) गमन करते हुए (**पुग्गलजीवाण**) पुद्गल और जीवों को (**गमणसहयारी**) जो गमन में सहकारी निमित्त है (**धम्मो**) उसे धर्म द्रव्य कहते हैं (**जह मच्छाणं तोयं**) जैसे जल मछली के गमन में सहकारी है (**सो**) वह धर्म द्रव्य (**अच्छंता**) ठहरने वाले जीव या पुद्गल को (**णेव णेई**) कभी नहीं ले जाता है।

भावार्थ – धर्म द्रव्य गमन करने वाले पुद्गल और जीव का सहायक है। जैसे– मछली को गमन करने में पानी सहायक होता है। गमन नहीं करने वाले जीव व पुद्गल को ये धर्म द्रव्य गमन नहीं करवाता।

धर्म द्रव्य – गतिशील जीव व पुद्गल की गति में जो उदासीन रूप से सहायता करता है, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। जैसे – पानी मछली को, हवा तितली को और रेल को चलाने में लोहे की पटरियाँ सहायक होती हैं।

धर्म द्रव्य व धर्म में अन्तर – धर्म द्रव्य एक स्वतन्त्र द्रव्य है। जो गति करने में उदासीन निमित्त कारण है और आत्मा के स्वभाव को या आत्मस्वभाव के अवलम्बन से प्रकट होने वाली परिणति को धर्म कहते हैं।

गमन – एक जगह से दूसरी जगह (क्षेत्र) पर जाने अर्थात् घूमने हिलने, मुड़ने वगैरह सब क्रिया गमन के अन्तर्गत आती है। गति क्रिया केवल जीव और पुद्गल ये दो द्रव्यों में होती है और धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य इन चार द्रव्यों में क्रिया करने की शक्ति नहीं है। इसलिए इन चारों में गति क्रिया नहीं हो सकती।

निमित्त – कार्य की उत्पत्ति में सहायता करने के अर्थ को निमित्त कहते हैं। ये दो प्रकार के हैं – 1. प्रेरक निमित्त, 2. उदासीन निमित्त।

प्रेरक निमित्त – कार्य की उत्पत्ति में जो प्रेरणा करता (देता) है, उसे प्रेरक निमित्त कहते हैं।

उदासीन निमित्त – कार्य की उत्पत्ति में जो प्रेरणा के बिना सहायक मात्र होते हैं, उसे उदासीन निमित्त कहते हैं। जैसे – अन्धे की लाठी।

अधर्म द्रव्य का लक्षण

ठाणजुदाण अधम्मो, पुग्गलजीवाण ठाण सहयारी।
छाया जह पहियाणं, गच्छंता णेव सो धरई॥ 18॥

अन्वयार्थ – **(ठाणजुदाण)** ठहरते हुए **(पुग्गलजीवाण)** पुद्गल और जीवों को **(ठाण सहयारी)** ठहरने में सहकारी कारण **(अधम्मो)** अधर्म द्रव्य है **(जह पहियाणं छाया)** जैसे पथिकों के ठहरने में छाया सहकारी कारण है **(सो)** उसी तरह अधर्म द्रव्य **(गच्छंता)** गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को **(णेव धरई)** नहीं ठहराता है।

भावार्थ – अधर्म द्रव्य ठहरने के इच्छुक ऐसे पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहायक कारण है। जैसे राहगीर (पथिक) को ठहरने में छाया सहायक कारण होती है। गमन करते हुए जीव और पुद्गल को ये अधर्म द्रव्य प्रेरणा देकर नहीं रोक सकता।

अधर्म द्रव्य – जो द्रव्य ठहरते हुए जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायक कारण है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। जैसे – पथिक को रुकने वृक्ष की छाया।

अधर्म द्रव्य और अधर्म में अन्तर – अधर्म द्रव्य एक स्वतंत्र द्रव्य है, जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायक उदासीन कारण है और अन्य भावना को आत्मा का स्वभाव समझकर क्रोधादि कषाय भाव करना, हिंसा, झूठ, चोरी वगैरह करना, अनात्मा में उपयोग लगाना, ये अधर्म हैं।

आकाश द्रव्य का लक्षण

अवगासदाणजोग्गं, जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं, अल्लोगागासमिदि दुविहं॥ 19॥

अन्वयार्थ–(**जीवादीणं**) जीवादि समस्त द्रव्यों को (**अवगासदाण जोग्गं**) अवकाश देने में जो समर्थ है (**आयासं वियाण**) उसे आकाश द्रव्य जानो (**लोगागासं अल्लोगागासं दुविहं**) वह आकाश लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार का है (**इदि**) ऐसा (**जेण्हं**) जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ – जो समस्त द्रव्यों को स्थान देने में समर्थ है उसे जिनेन्द्र देव के द्वारा बताया गया आकाश द्रव्य समझना चाहिए। उस आकाश द्रव्य के लोकाकाश और अलोकाकाश दो भेद हैं।

आकाश द्रव्य – जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश अर्थात् स्थान देता है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

आकाश द्रव्य रूपादि रहित, अखण्ड, अमूर्त, निष्क्रिय, सर्वव्यापक द्रव्य है। इसके दो भेद हैं– 1. लोकाकाश, 2. अलोकाकाश।

लोकाकाश और अलोकाकाश का स्वरूप

धम्माधम्मा कालो, पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो, तत्तो परदो अलोगुत्तो॥ 20॥

अन्वयार्थ– (**जावदिये आयासे**) जितने आकाश में (**धम्माधम्मा**) धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य (**कालो**) काल द्रव्य, (**पुग्गलजीवा य संति**) पुद्गल और जीव द्रव्य हैं (**सो लोगो**) वह तो लोकाकाश है (**तत्तो परदो**) उसके

बाहर **(अलोग उत्तो)** अलोकाकाश कहा गया है।

भावार्थ – जितने आकाश में धर्म, अधर्म, काल, जीव और पुद्गल द्रव्य हो वह लोकाकाश है, उसके बाहर अलोकाकाश है।

लोकाकाश – जितने आकाश में धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और जीव द्रव्य होते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं। वह लोकाकाश पुरुषाकार है। जैसे– पुरुष अपने कमर पर हाथ रखकर दोनों पैर फैलाकर खड़ा होने पर जो आकार होता है, ऐसा लोकाकाश का आकार है।

लोकाकाश का परिमाण 343 घन राजू प्रमाण है। उसके तीन भाग हैं। 1. ऊर्ध्वलोक, 2. मध्यलोक, 3. अधोलोक। इसकी ऊँचाई 14 राजू चौड़ाई नीचे 7 राजू, ऊपर कम होते होते सात राजू पर मध्य भाग में (बीच में) एक राजू, बाद में बढ़ते–बढ़ते 10॥ राजू ऊपर पाँच राजू व बाद में कम होते–होते 14 राजू पर एक राजू मात्र है। मोटाई सब तरफ से सात राजू है। ये लोक 1. घनोदधि वातवलय, 2. घन वातवलय, 3. तनुवातवलय ये तीन वातवलयों से वेष्टित (घिरा) और आश्रित है।

अलोकाकाश – लोकाकाश के बाहर अनंत आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।

काल द्रव्य का स्वरूप

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्ठो॥ 21॥

अन्वयार्थ–**(जो परिणामादीलक्खो)** जो परिणाम आदि लक्षण वाला **(दव्वपरिवट्टरूवो)** द्रव्यों के परिवर्तन में कारण है **(सो ववहारो कालो हवेइ)** वह व्यवहार काल है **(य)** और **(वट्टणलक्खो)** जिसका वर्तना ही लक्षण है **(परमट्ठो)** वह परमार्थ काल अर्थात् निश्चयकाल है।

भावार्थ – जो द्रव्य के परिवर्तन में सहायक है, परिणाम आदि लक्षण वाला है वह व्यवहार काल है। वर्तना–परिणमन में हेतु पना जिसका लक्षण है ऐसा निश्चय काल है।

काल द्रव्य – जो जीवादि द्रव्य के परिणमन में कारण है, उसे काल द्रव्य कहते हैं। उसके दो भेद हैं – 1. व्यवहार काल, 2. निश्चय काल।

व्यवहार काल – व्यवहार में मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, महिना, वर्ष आदि ये व्यवहार काल हैं।

निश्चय काल – जो काल प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक क्षण होने वाले परिवर्तन में सहायक होता है वह वर्तना अर्थात् वर्तना लक्षण युक्त निश्चय काल द्रव्य होता है।

वर्तना – सभी द्रव्यों में प्रतिक्षण सूक्ष्म परिवर्तन होने के लिए, होने के निमित्त को वर्तना कहते हैं। जैसे– कपड़े, घर, शरीर आदि में निरन्तर परिवर्तन होता है।

परिणाम – समस्त द्रव्यों के स्थूल परिवर्तन को परिणाम कहते हैं।

क्रिया – एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने (जाने को) को क्रिया कहते हैं। ये क्रिया जीव और पुद्गल में होती है।

परत्व और अपरत्व – प्राचीन इसे परत्व और जो थोड़े दिनों का अर्थात् नया ही है, उसे अपरत्व कहते हैं। परत्व और अपरत्व दो वस्तुओं में अन्तर बताता है। जैसे – कोई व्यक्ति दो वर्ष छोटा है। वह अपरत्व अथवा दो वर्ष बड़ा वह (परत्व) है।

काल द्रव्य के प्रदेश

लोयायासपदेसे, इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।
रयणाणं रासीमिव, ते कालाणू असंखदव्वाणि॥ 22॥

अन्वयार्थ – **(इक्किक्के लोयायास पदेसे)** एक–एक लोकाकाश के प्रदेश पर **(रयणाणं रासीम् इव)** रत्नों की राशि के समान **(इक्किक्का)** एक–एक **(कालाणू)** काल द्रव्य का अणु **(ठिया)** स्थित है **(ते)** वे कालाणु **(हु)** निश्चय से **(असंखदव्वाणि)** असंख्यात द्रव्य हैं।

भावार्थ – लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उन एक–एक प्रदेश पर

रत्नों की राशि की तरह कालाणु अलग-अलग स्थित हैं। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात होने पर कालद्रव्य भी असंख्यात है अर्थात् प्रत्येक कालाणु स्वतंत्र द्रव्य है। इसलिए इसे बहुप्रदेशी (अस्तिकाय) नहीं कहा है।

कालाणु - कालद्रव्य एक प्रदेशी है अथवा परमाणु मात्र जितना ही है, इसलिए इसे कालाणु कहते हैं।

द्रव्य और अस्तिकाय के भेद

एवं छब्भेयमिदं, जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं, णादव्वा पंच अत्थिकाया दु॥ 23॥

अन्वयार्थ - **(एवं)** इस प्रकार **(जीवाजीवप्पभेददो)** जीव और अजीव के भेद से **(दव्वं)** द्रव्य **(छब्भेयं उत्तं)** छह भेद वाला कहा गया **(दु)** परन्तु **(कालविजुत्तं)** काल द्रव्य को छोड़कर **(पंच अत्थिकाया णादव्वा)** शेष पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय जानना चाहिए।

भावार्थ - इस तरह एक जीव व बाकी के पाँच अजीव मिलाकर छह प्रकार के द्रव्य बताये हैं। इन छहों में काल द्रव्य छोड़कर बाकी के पाँच द्रव्य को अस्तिकाय बताया है।

छहद्रव्य - 1. जीवद्रव्य, 2. पुद्गल द्रव्य, 3. धर्मद्रव्य, 4. अधर्मद्रव्य, 5. आकाश द्रव्य, 6. कालद्रव्य।

पाँच अस्तिकाय - 1. जीव अस्तिकाय, 2. पुद्गल अस्तिकाय, 3. धर्म अस्तिकाय, 4. अधर्म अस्तिकाय, 5. आकाश अस्तिकाय।

कालद्रव्य एक प्रदेशी है इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

अनेकान्त - अनेक धर्मों के (गुणों की) अपेक्षा से एक वस्तु के विरोध रहित अनेक धर्मात्मक (गुणों के) कथन करने वाला सिद्धान्त का मतलब अनेकान्त है। ये जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है। इसमें सम्यक्त्व व सापेक्षता है।

स्याद्वाद - अनेकान्तात्मक वस्तु के धर्म को स्यात् अर्थात् अपेक्षा से

वाद मतलब कथन। ऐसे कथन करने को स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वाद का दूसरा नाम अपेक्षावाद है।

अस्तिकाय के लक्षण

संति जदो तेणेदे, अत्थित्ति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा, तम्हा काया य अत्थिकाया य॥ 24॥

अन्वयार्थ – **(जदो एदे संति)** क्योंकि पूर्वोक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पाँच द्रव्य विद्यमान हैं **(तेण)** इसलिए **(जिणवरा)** जिनेश्वर **(अत्थित्ति)** इनको अस्ति हैं ऐसा **(भणंति)** कहते हैं **(य)** और **(जम्हा काया इव)** क्योंकि ये काय के समान **(बहुदेसा)** बहु प्रदेशी हैं **(तम्हा काया)** इसलिए इनको काय कहते हैं **(य)** और **(अत्थिकाया)** अस्ति तथा काय दोनों को मिलाने से ये पाँचों द्रव्य अस्तिकाय होते हैं।

भावार्थ – पाँच द्रव्य 'नित्यं सन्ति' अर्थात् निरन्तर रहते हैं इसलिए इनको 'अस्ति' ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है और शरीर के प्रमाण उन पाँचों ही द्रव्यों के प्रदेश बहुप्रदेशी हैं इसलिए इनको काय कहा है। ये दोनों को मिलाकर 'अस्तिकाय' ये संज्ञा काल को छोड़कर बाकी के पाँच द्रव्यों को मिली है।

अस्ति – जो सदा विद्यमान रहता है, जिसका कभी नाश नहीं होता, उसे अस्ति कहते हैं।

काय – जो शरीर प्रमाण (परमाणु के पिण्डरूप) बहुप्रदेशी (ज्यादा प्रदेश वाला) होता है, उसे काय कहते हैं।

अस्तिकाय – जिसका अस्तित्व देखने में आता है और कायवान भी दिखता है, उसे अस्तिकाय कहते हैं। 1. जीव, 2. पुद्गल, 3. धर्म, 4. अधर्म, 5. आकाश।

अस्तिद्रव्य – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहों द्रव्य अस्ति द्रव्य हैं।

द्रव्यों की प्रदेश संख्या

होंति असंखा जीवे, धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा, कालस्सेगो ण तेण सो काओ॥ 25॥

अन्वयार्थ - (**जीवे धम्माधम्मे**) एक जीव द्रव्य में, धर्म द्रव्य में, अधर्म द्रव्य में (**असंखा**) असंख्यात प्रदेश हैं (**आयासे**) आकाश में (**अणंत**) अनन्त प्रदेश हैं (**मुत्ते**) मूर्त पुद्गल द्रव्य में (**तिविह पदेसा**) संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश (**होंति**) होते हैं (**कालस्सेगो तेण**) काल द्रव्य के एक ही प्रदेश है इस कारण (**सो काओ ण**) वह कायवान् नहीं है अतः अस्तिकाय नहीं है।

भावार्थ - जीव, धर्म और अधर्म ये तीन द्रव्यों के प्रदेश असंख्य हैं। आकाश के प्रदेश अनन्त हैं। मूर्तिक पुद्गल के प्रदेश संख्यात, असंख्यात व अनन्त ऐसे तीन प्रकार के हैं और काल का एक ही प्रदेश है (कारण कि काल के परमाणु रत्नों की राशि प्रमाण (समान) है) इसलिए काल को काय संज्ञा नहीं मिली।

जीव असंख्यात प्रदेशी - एक जीव केवली समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोकाकाश में व्यापते हैं (फैलते हैं) लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश होते हैं। इसलिए जीव असंख्यात प्रदेशी है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य भी सम्पूर्ण लोकाकाश में तिल के प्रत्येक भाग में तेल के समान व्याप्त हैं। इसलिए वे भी असंख्यात प्रदेशी हैं।

आकाश के अनन्त प्रदेश हैं, क्योंकि वह लोकाकाश के बाहर भी देखने में आता है और इसकी कोई भी सीमा नहीं है। पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। इसलिए ये पाँच बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय हैं। परन्तु काल के अणु एक-एक अलग-अलग रहते हैं वे मिलकर स्कन्धरूप नहीं होते इस कारण एक प्रदेशी हैं। कायवान नहीं हैं।

परमाणु उपचार से काय

एयपदेसो वि अणू, णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा, तेण य काओ भणंति सव्वण्हू॥ 26॥

अन्वयार्थ - (**एयपदेसो वि अणू**) एक प्रदेशी होने पर भी अणु (**णाणाखंधप्पदेसदो**) नाना स्कन्ध होने के कारण (**बहुदेसा**) बहु प्रदेशी (**होदि**) होता है (**य**) और (**तेण**) इसलिए (**सव्वण्हू**) सर्वज्ञ देव इसे (**उवयारा**) व्यवहार नय से/उपचार से (**काओ**) कायवान (**भणंति**) कहते हैं।

भावार्थ - एक प्रदेशी परमाणु अनेक स्कन्धों में कारणभूत होने के कारण सर्वज्ञदेव उपचार से परमाणु को काय कहते हैं।

उपचार - किसी वस्तु के धर्म (गुण) को प्रयोजन वश अन्य वस्तु में घटित करने को उपचार कहते हैं। जैसे- शुद्ध पुद्गल परमाणु स्वभावतः एक प्रदेशी है परन्तु अन्य पुद्गलों के संयोग से वह (संख्यात, असंख्यात, अनन्त) प्रदेशी कहा जाता है।

परमाणु - जिसके दो टुकड़े नहीं होते ऐसे अविभागी पुद्गल की अन्तिम अवस्था को परमाणु कहते हैं।

प्रदेश के लक्षण

जावदियं आयासं, अविभागी पुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे, सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥ 27॥

अन्वयार्थ - (**जावदियं आयासं**) जितना आकाश (**अविभागी-पुग्गलाणुवट्टद्धं**) पुद्गल के सबसे छोटे अविभाजित परमाणु से रोका जाता है (**तं**) उसको (**खु**) निश्चय से (**सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं**) सर्व परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ (**पदेसं**) प्रदेश (**जाणे**) जानना चाहिए।

भावार्थ - जितना आकाश अविभागी अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म ऐसे पुद्गल परमाणु के द्वारा घेरा जाता है उसे निश्चय से सभी सूक्ष्म स्थूल परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ प्रदेश समझना चाहिए।

प्रदेश - एक पुद्गल परमाणु आकाश का जितना भाग घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीय अध्याय

पदार्थों के नाम निर्देश

आसव बंधण संवर, णिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा, ते वि समासेण पभणामो ॥ 28॥

अन्वयार्थ – **(जीवाजीवविसेसा)** जीव और अजीव के विशेष **(जे)** जो **(सपुण्णपावा)** पुण्य और पाप सहित **(आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खा)** आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष हैं **(तेवि)** उनको भी **(समासेण)** संक्षेप से **(पभणामो)** कहते हैं।

भावार्थ – जीव और अजीव के विशेष भेद रूप जो पुण्य और पाप सहित आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ हैं अर्थात् जीव और अजीव द्रव्य में छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थ अन्तर्भूत हैं, इसलिए उनका यहाँ संक्षेप में वर्णन किया है।

तत्त्व – वस्तु के यथार्थ स्वरूप को तत्त्व कहते हैं। उदाहरण– अग्नि का अग्नित्व, सुवर्ण का सुवर्णत्व, जीव का जीवत्व।

तत्त्व सात हैं – 1. जीव, 2. अजीव, 3. आस्रव, 4. बन्ध, 5. संवर, 6. निर्जरा, 7. मोक्ष।

पदार्थ नौ होते हैं – 1. जीव, 2. अजीव, 3. आस्रव, 4. बन्ध, 5. संवर, 6. निर्जरा, 7. मोक्ष, 8. पुण्य, 9. पाप।

1. जीव – जिसमें ज्ञान–दर्शन पाया जाये, वह जीव है।

2. अजीव – जिसमें ज्ञान–दर्शन नहीं पाया जाये, वह अजीव है।

3. आस्रव – राग–द्वेषादि परिणामों के द्वारा आत्मा में आने वाले कर्मों के द्वार को आस्रव कहते हैं।

4. बन्ध – कर्मों का आत्मा से दूध–पानी की तरह एकमेक हो जाने को बन्ध कहते हैं।

5. संवर – आस्रव न होना अर्थात् आने वाले नये कर्मों को रोकने को संवर कहते हैं।

6. निर्जरा – कर्मों का एकदेश (आंशिक) रूप से क्षय होने को निर्जरा कहते हैं।

7. मोक्ष – कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय होने को मोक्ष कहते हैं।

8. पुण्य – जो आत्मा को पवित्र करे उसे अथवा शुभ आस्रव को पुण्य कहते हैं।

9. पाप – जो आत्मा को शुभ क्रिया नहीं करने देता अथवा अशुभ आस्रव को पाप कहते हैं।

भावास्रव और द्रव्यास्रव का स्वरूप

आसवदि जेण कम्मं, परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो, कम्मासवणं परो होदि॥ 29॥

अन्वयार्थ – (**अप्पणो**) आत्मा के (**जेण**) जिस (**परिणामेण**) परिणाम से (**कम्मं आसवदि**) कर्म आता है (**स जिणुत्तो**) वह जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ (**भावासवो**) भावास्रव (**विण्णेओ**) जानना चाहिए और (**कम्मासवणं**) जो कर्मों का आना है (**परो होदि**) वह द्रव्यास्रव होता है।

भावार्थ – आत्मा के राग-द्वेषादि परिणामों के निमित्त से कर्म आते हैं, उसे जिनेन्द्रदेव ने भावास्रव कहकर बताया है और ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्यकर्म के आस्रव से दूसरा द्रव्यास्रव कहकर बताया है।

आस्रव – कर्म के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं– 1. भावास्रव, 2. द्रव्यास्रव।

1. भावास्रव – आत्मा के जिस परिणाम से कर्मों का आस्रव होता है, उस परिणाम को भावास्रव कहते हैं।

2. द्रव्यास्रव – ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों के आस्रव को द्रव्यास्रव कहते हैं।

परिणाम – आत्मा के शुभ-अशुभ भावों को परिणाम कहते हैं।

मिच्छत्ता विरदिपमादजोग कोधादओऽथ विण्णेया।
पणपणपणदस तिय चदु, कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥ 30॥

अन्वयार्थ - (**अथ**) अब (**पुव्वस्स**) भावास्त्रव के (**भेदा**) भेद (**मिच्छत्ता विरदि पमादजोग**) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग (**दु**) और (**कोधादओ**) कषाय (**कमसो**) क्रम से (**पण पण**) पाँच, पाँच (**पणदस**) पंद्रह, (**तिय चदु**) तीन और चार (**विण्णेया**) जानने चाहिए।

भावार्थ - भावास्रव के मूल कारण राग-द्वेष आदि परिणाम रूप वैभाविक योग और उपयोग हैं। इसके पाँच भेद हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय इनके क्रम से पाँच, पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं। ये सब मिलाकर बत्तीस भेद हैं। इसी तरह अविरति के बारह, योग के पन्द्रह और कषाय के पच्चीस प्रभेद करने पर भावास्रव के 72 भेद होते हैं।

मिथ्यात्व - जीवादि तत्त्वों में श्रद्धान न होना मिथ्यात्व है अथवा मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि अदेवों में देव बुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि की श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते है। ये पाँच हैं -1. एकान्त मिथ्यात्व, 2. विपरीत मिथ्यात्व, 3. संशय मिथ्यात्व, 4. विनय मिथ्यात्व, 5. अज्ञान मिथ्यात्व।

अविरति - पाँच पापों का त्याग न करना अथवा व्रतों के ग्रहण न करने को अविरति कहते हैं। ये पाँच हैं-1. हिंसा अविरति, 2. असत्य अविरति, 3. चोरी अविरति, 4. अब्रह्म अविरति, 5. परिग्रह अविरति।

पाँच स्थावर और त्रस हिंसा का त्याग न करना, इसी प्रकार पाँच इन्द्रिय और मन को वश में न करना ऐसे बारह प्रकार के अविरति के भेद हैं।

प्रमाद - अच्छे कार्यों में अनादर के भाव होने को प्रमाद कहते हैं। प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं- 1. स्त्रीकथा, 2. राजकथा, 3. भोजन कथा, 4. चोरकथा, 5. क्रोध, 6. मान, 7. माया, 8. लोभ, 9. स्पर्शनेन्द्रिय, 10. रसनेन्द्रिय, 11. घ्राणेन्द्रिय, 12. चक्षु इन्द्रिय, 13. श्रोतेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति, 14. निद्रा व 15. स्नेह (आसक्ति)।

कषाय – जो आत्मा को दु:ख दे अथवा वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले क्रोधादि रूप कलुषता को कषाय कहते हैं।

कषाय– कष+आय, 'कष' का अर्थ 'संसार', 'आय' का अर्थ 'लाभ' जिस परिणामों के द्वारा चतुर्गति रूप संसार की प्राप्ति होती है, उसे कषाय कहते हैं।

कषाय के संक्षेप से चार भेद हैं – 1. क्रोध कषाय, 2. मान कषाय, 3. माया कषाय, 4. लोभ कषाय। विस्तार से पच्चीस भेद हैं।

योग – मन, वचन, काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेश में परिस्पंदन निर्माण होने को योग कहते हैं। वे योग संक्षेप से तीन हैं – 1. मनयोग, 2. वचनयोग, 3. काययोग और विस्तार से पन्द्रह भेद हैं।

द्रव्यास्रव का स्वरूप और भेद

णाणावरणादीणं, जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ, अणेयभेओ जिणक्खादो॥ 31॥

अन्वयार्थ – (**णाणावरणादीणं जोग्गं**) ज्ञानावरणादि आठ कर्म होने योग्य (**जं पुग्गलं**) जो पुद्गल (**समासवदि**) आते हैं (**स**) वह (**अणेय-भेओ**) अनेक भेद वाला (**दव्वासवो**) द्रव्यास्रव (**णेओ**) जानना चाहिए (**जिणक्खादो**) ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ – ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य ऐसे जो पुद्गल द्रव्य आते हैं, वह द्रव्यास्रव है। वह अनेक प्रकार का है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

द्रव्य आस्रव – ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य ऐसे जो पुद्गल परमाणु आते हैं, उसे द्रव्यास्रव कहते हैं।

आठ कर्म – 1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र, 8. अन्तराय।

कर्मों की उत्तर प्रकृति रूप भेद – ज्ञानावरण के 5, दर्शनावरण के 9, मोहनीय के 28, वेदनीय के 2, आयु के 4, नामकर्म के 93, गोत्र कर्म के 2

व अन्तराय के 5 उत्तर भेद हैं।

इस प्रकार कर्म के 148 भेद होते हैं। इतने ही नहीं इनके संख्यात व असंख्यात भेद होते हैं।

भावबन्ध व द्रव्यबन्ध के लक्षण

बज्झदि कम्मं जेण दु, चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं, अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥ 32॥

अन्वयार्थ – (**जेण**) जिस (**चेदणभावेण**) आत्मा के परिणाम से (**कम्मं बज्झदि**) कर्म बंधता है (**सो**) वह (**भावबंधो**) भाव बंध है (**दु**) और (**कम्मादपदेसाणं**) कर्म और आत्मप्रदेशों का (**अण्णोण पवेसणं**) परस्पर एकमेक होकर मिल जाना (**इदरो**) द्रव्यबंध है।

भावार्थ – आत्मा के जिन परिणामों से कर्मों का बन्ध होता है उस परिणाम को भाव बन्ध कहते हैं और कर्म व आत्मा इसके प्रदेश परस्पर में मिलते हैं उसे दूसरा द्रव्यबन्ध कहते हैं।

बन्ध – राग-द्वेष के निमित्त से कर्मों का आत्मा के साथ दूध और पानी की तरह मिल जाने (एक क्षेत्रावगाही होने) को बन्ध कहते हैं।

इसके दो भेद हैं – 1. भाव बन्ध, 2. द्रव्य बन्ध।

भाव बन्ध – जिन मिथ्यात्वादि आत्म परिणामों से कर्म बन्ध होता है, उसे भाव बन्ध कहते हैं।

द्रव्यबन्ध – ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही होने (मिलने) को द्रव्यबन्ध कहते हैं।

अमूर्तिक का मूर्तिक से बन्ध – आत्मा अमूर्तिक है तथा संसारी अवस्था में अनादिकाल से कर्म बन्धन से बन्धने के कारण कथञ्चित् मूर्तिक है, मूर्तिक होने के कारण उसका कर्मों से बन्ध होता है।

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस भेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा, ठिदिअणुभागा कसायदो होंति॥ 33॥

अन्वयार्थ – (**बंधो**) बन्ध (**पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस**) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के (**भेदा**) भेद से (**चदुविधो**) चार प्रकार का होता है, उनमें से (**पयडिपदेसा**) प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध तो (**जोगा**) योग से होते हैं (**दु**) तथा (**ठिदि अणुभागा**) स्थितिबंध और अनुभागबंध (**कसायदो**) कषाय से (**होंति**) होते हैं।

भावार्थ – बन्ध एक ही तरह का होते हुए भी विशेष दृष्टि से इसके अनेक भेद होते हैं। द्रव्यकर्मबन्ध, नोकर्मबन्ध, भावकर्मबन्ध के भेद से तीन प्रकार का है। ज्ञानावरणादि कर्म आठ प्रकार के हैं। भेद रूप कर्मों की अपेक्षा से बन्ध 148 प्रकार का है। मात्र यहाँ प्रकृति आदि बन्ध की मुख्यता है। मन, वचन और काय के योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है तो स्थिति और अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से होता है।

बन्ध चार प्रकार का है –1. प्रकृतिबन्ध, 2. स्थिति बन्ध, 3. अनुभाग बन्ध, 4. प्रदेश बन्ध।

प्रकृति बन्ध – कर्म के स्वभाव को प्रकृति बन्ध कहते हैं। जैसे– ज्ञानावरणादि।

स्थिति बन्ध – स्थिति का अर्थ काल मर्यादा। जीव के प्रदेशों में बन्धे हुए कर्म जब तक अपने फल देने की स्थिति में रहते हैं उस समय तक की काल मर्यादा को स्थिति बन्ध कहते हैं।

अनुभाग बन्ध – अनुभाग का अर्थ फल देने की शक्ति। ज्ञानावरणादि कर्म के फलदान (कम–ज्यादा प्रमाण में) देने की शक्ति को अनुभाग बन्ध कहते हैं।

प्रदेश बन्ध – प्रदेश का अर्थ कर्मों के परमाणु योग के तारतम्य के अनुसार बन्धे हुए कर्मप्रदेशों की संख्या नियत होने को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध योग से होता है तो स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कषाय के कारण होता है। इसमें पहले कषाय नष्ट होती है उसके बाद योग नष्ट होता है। कषाय का अभाव दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है और योग का अभाव तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है।

भाव संवर और द्रव्यसंवर का स्वरूप

चेदणपरिणामो जो, कम्मस्सासव णिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु, दव्वासवरोहणे अण्णो॥ 34॥

अन्वयार्थ- (**जो**) जो (**चेदणपरिणामो**) आत्मा का परिणाम (**कम्मस्सासव णिरोहणे**) आस्रव के रोकने में (**हेदू**) कारण हैं (**सो**) वह (**खलु**) निश्चय से (**भावसंवरो**) भाव संवर है (**दव्वासवरोहणे**) द्रव्यास्रव का रुकना (**अण्णो**) द्रव्य संवर है।

भावार्थ - जो आत्मा के परिणाम कर्मों के आस्रव को रोकने में कारण है, वह निश्चय से भावसंवर है और द्रव्यास्रव को रोकने में (प्रतिबन्ध करने में) परिणाम द्रव्य संवर है।

संवर - कर्मों के आस्रव को अर्थात् नये आने वाले कर्मों को रोकना संवर कहलाता है। ये दो प्रकार का होता है - 1. भावसंवर, 2. द्रव्यसंवर।

भाव संवर - आस्रव रोकने में कारणभूत आत्म परिणाम को भावसंवर कहते हैं।

द्रव्य संवर - कर्मरूप पुद्गल द्रव्य का आस्रव रोकना द्रव्यसंवर है।

भाव संवर के भेद

वदसमिदीगुत्तीओ, धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया, णायव्वा भावसंवरविसेसा॥ 35॥

अन्वयार्थ- (**वदसमिदीगुत्तीओ**) व्रत, समिति, गुप्ति, (**धम्माणुपेहा**)

धर्म, अनुप्रेक्षा, **(परीसहजओ)** परीषहजय **(य)** और **(बहुभेया)** बहुत प्रकार वाला **(चारित्तं)** चारित्र **(भावसंवर विसेसा)** भावसंवर के भेद **(णायव्वा)** जानना चाहिए।

भावार्थ – व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और अनेक प्रकार के चारित्र ये सभी भाव संवर के भेद हैं।

भावसंवर के 62 भेद – पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अणुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय और पाँच चारित्र।

व्रत – संकल्प पूर्वक नियम करना अथवा अहिंसादि अशुभ कर्मों से संकल्प पूर्वक विरक्त होने को व्रत कहते हैं। व्रत पालने से आत्मिक शुद्धि होती है। व्रत पाँच होते हैं – 1. अहिंसाव्रत, 2. सत्यव्रत, 3. अचौर्यव्रत, 4. ब्रह्मचर्य व्रत, 5. अपरिग्रहव्रत।

समिति – जीवों को हिंसा से बचने के लिए प्रमाद रहित यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। समिति पाँच हैं – 1. ईर्या समिति, 2. भाषा समिति, 3. एषणा समिति, 4. आदान–निक्षेपण समिति, 5. प्रतिष्ठापन (व्युत्सर्ग) समिति।

गुप्ति – संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा होती है, उसे गुप्ति कहते हैं। अथवा संसार भ्रमण के कारण रूप मन, वचन और काय, योग का सम्यक् पूर्वक निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं। ये तीन हैं– 1. मनोगुप्ति, 2. वचनगुप्ति, 3. कायगुप्ति।

धर्म – 'धरतीति धर्मः' जो संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वर्ग–मोक्षादि उत्तम सुख में पहुँचाता है, उसे धर्म कहते हैं।

धर्म 10 होते हैं – 1. उत्तम क्षमा, 2. उत्तम मार्दव, 3. उत्तम आर्जव, 4. उत्तम शौच, 5. उत्तम सत्य, 6. उत्तम संयम, 7. उत्तम तप, 8. उत्तम त्याग, 9. उत्तम आकिञ्चन्य, 10. उत्तम ब्रह्मचर्य।

अनुप्रेक्षा – संसार, शरीर आदि के स्वभाव का बारम्बार चिन्तन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं।

अनुप्रेक्षा के 12 भेद – 1. अनित्य अनुप्रेक्षा, 2. अशरण अनुप्रेक्षा, 3. संसार अनुप्रेक्षा, 4. एकत्व अनुप्रेक्षा, 5. अन्यत्व अनुप्रेक्षा, 6. अशुचित्व

अनुप्रेक्षा, 7. आस्रव अनुप्रेक्षा, 8. संवर अनुप्रेक्षा, 9. निर्जरा अनुप्रेक्षा, 10. लोक अनुप्रेक्षा, 11. बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा, 12. धर्म अनुप्रेक्षा।

परिषहजय – भूख, प्यास आदि की वेदना उत्पन्न होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिए उसे शान्ति पूर्वक सहन करने को परिषहजय कहते हैं। परिषह 22 होते हैं– क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान व अदर्शन।

चारित्र – हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इनके त्याग को चारित्र कहते हैं अथवा पाप क्रिया से निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। चारित्र के पाँच भेद हैं – 1. सामायिक, 2. छेदोपस्थापना, 3. परिहार विशुद्धि, 4. सूक्ष्मसाम्पराय, 5. यथाख्यात।

निर्जरा का स्वरूप और भेद

जह कालेण तवेण य, भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया, तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा॥ 36॥

अन्वयार्थ – (**जेण भावेण**) जिस आत्म परिणाम से (**जह कालेण**) समय पाकर (**य**) या (**तवेण**) तपस्या के द्वारा (**भुत्तरसं**) भोगा गया है रस जिसका (**कम्मपुग्गलं**) ऐसा कर्म पुद्गल (**सडदि**) झड़ता है, वह भाव निर्जरा है। (**तस्सडणं**) कर्म पुद्गलों का झड़ना द्रव्य निर्जरा है (**इदि णिज्जरा दुविहा**) इस प्रकार निर्जरा दो प्रकार की (**णेया**) जाननी चाहिए।

भावार्थ – जिस आत्म परिणाम से योग्य काल में अथवा तपश्चरण से जिसका रस अर्थात् फलदान देने की शक्ति या सुख–दुःखानुभव हो गया है, ऐसे जो कर्म पुद्गल फल देकर झड़ जाते हैं, वह भाव निर्जरा है और उन कर्मों का खिरना अर्थात् कर्म निकल जाने को द्रव्य निर्जरा कहते हैं। इस तरह निर्जरा दो प्रकार की जानना।

निर्जरा – कर्मों का एक देश (आंशिक) रूप से क्षय होने को निर्जरा

कहते हैं। निर्जरा दो प्रकार की है – 1. भाव निर्जरा, 2. द्रव्य निर्जरा।

भाव निर्जरा – अपने जिन परिणामों से बन्धे हुए कर्म निकल जाते हैं, उसे भाव निर्जरा कहते हैं।

द्रव्य निर्जरा – बन्धे हुए कर्म एक देश निर्जरित होते हैं, उसे द्रव्य निर्जरा कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं। 1. सविपाक निर्जरा, 2. अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा – अपना काल पूर्ण होने पर और अनुभव रूपी उदयावली के स्रोत में प्रवेश लेने पर ऐसे शुभाशुभ कर्म फल देकर अंशतः जो कर्म निकल जाते हैं, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं।

अविपाक निर्जरा – तपस्या के द्वारा कर्मों का उदयकाल आने से पूर्व ही उसकी स्थिति कम होते हुए उदीरणा होकर उदय में आते हैं अर्थात् उन कर्मों का एकदेश क्षय होता है, उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं।

तप – इच्छा का निरोध करने (रोकने) को तप कहते हैं।

तप दो प्रकार का है – 1. बहिरङ्ग तप, 2. अन्तरङ्ग तप।

बहिरङ्ग तप – जो तपश्चरण बाह्य द्रव्यों के आधार से होता है और दूसरे के द्वारा देखा जाता है, उसे बहिरङ्ग तप कहते हैं। वह छह प्रकार का है– 1. अनशन, 2. अवमौदर्य (ऊनोदर), 3. वृत्तिपरिसंख्यान, 4. रसपरित्याग, 5. विविक्तशय्यासन, 6. कायक्लेश।

अन्तरङ्ग तप – जिस तपस्या का आत्मा से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, उसे अन्तरङ्ग तप कहते हैं। ये छह प्रकार का होता है– 1. प्रायश्चित, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. स्वाध्याय, 5. व्युत्सर्ग, 6. ध्यान।

मोक्ष का स्वरूप और भेद

सव्वस्स कम्मणो जो, खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेओ स भावमोक्खो, दव्वविमोक्खो य कम्मपुहभावो॥ 37॥

अन्वयार्थ – (**हु**) निश्चय से (**अप्पणो**) आत्मा का (**जो परिणामो**) जो परिणाम (**सव्वस्स कम्मणो**) समस्त कर्मों के (**खयहेदू**)

क्षय का कारण है **(स)** वह **(भावमोक्खो)** भाव मोक्ष है **(य)** और **(कम्मपुहभावो)** कर्मों के पृथक् हो जाने को **(दव्वविमोक्खो)** द्रव्य मोक्ष **(णेओ)** जानना चाहिए।

भावार्थ – सम्पूर्ण कर्म के नाश होने के कारण ऐसे जो आत्मा के परिणाम होते हैं वह भाव मोक्ष जानना व कर्मों से आत्मा के मुक्त होने को द्रव्य मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष – समस्त कर्मों का आत्मा से अलग होने को अर्थात् क्षय होने को मोक्ष कहते हैं। वह दो प्रकार का है– 1. भाव मोक्ष, 2. द्रव्य मोक्ष।

भावमोक्ष – आत्मा के जो परिणाम कर्मों के सम्पूर्ण क्षय होने में कारण होते हैं, उस परिणाम को मोक्ष कहते हैं।

द्रव्यमोक्ष – ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का सर्वथा क्षय अभाव होना द्रव्यमोक्ष कहलाता है।

भावमोक्ष 13 वें गुणस्थान में होता है और अयोगी (14 वाँ) गुणस्थान के अन्तिम समय में द्रव्यमोक्ष होता है अर्थात् गुणस्थानातीत अर्थात् 14 वें गुणस्थान से बाहर होते ही द्रव्यमोक्ष होता है।

पुण्य और पाप

सुहअसुहभावजुत्ता, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं, गोदं पुण्णं पराणि पावं च॥ 38॥

अन्वयार्थ – **(सुहअसुहभावजुत्ता)** शुभ व अशुभ भाव से युक्त **(जीवा)** जीव **(खलु)** निश्चय से **(पुण्णं पावं हवंति)** पुण्य और पाप रूप होते हैं **(सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं)** सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम तथा उच्चगोत्र ये सब कर्म प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं **(च पराणि पावं)** और बाकी सब कर्मप्रकृतियाँ पाप रूप हैं।

भावार्थ – शुभ और अशुभ परिणामों से युक्त जीव निश्चय से पुण्यरूप और पाप रूप होता है। इसलिए जीव सुख–दुःख अनुभव करता है सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम और शुभगोत्र ये कर्म पुण्यरूप हैं और शेष दूसरे कर्म पाप रूप हैं।

पुण्य – जो आत्मा को पवित्र करे अथवा जिस-जिस के द्वारा आत्मा पवित्र हो, वह पुण्य है।

पाप – जो आत्मा को शुभ कार्यों से दूर करता है, वह पाप है अर्थात् जो जीव को आत्मकल्याण के मार्ग पर जाने न दे, वह पाप है।

पुण्य प्रकृति 68 होती हैं और पाप प्रकृति 100 हैं। रूपादि नामकर्म की 20 प्रकृति पुण्यरूप और पापरूप होती हैं, ये प्रकृति क्रमशः अजीव पुण्य व अजीव पाप कही जाती हैं।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीय अध्याय

मोक्ष का निरूपण

सम्मद्दंसणणाणं, चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो, तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ 39॥

अन्वयार्थ - (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**सम्मद्दंसण णाणं चरणं**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को (**मोक्खस्स कारणं**) मोक्ष का कारण (**जाणे**) जानो (**णिच्छयदो**) निश्चय नय से (**तत्तिय मइओ**) इन तीनों स्वरूप (**णिओ अप्पा**) निज आत्मा को ही मोक्ष का कारण जानो।

भावार्थ - व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष के कारण हैं ऐसा समझना चाहिए और निश्चयनय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय आत्मा स्वतः मोक्ष का कारण है।

मोक्षमार्ग के दो प्रकार- 1. व्यवहार मोक्षमार्ग, 2. निश्चय मोक्षमार्ग।

व्यवहार मोक्षमार्ग - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं।

निश्चय मोक्षमार्ग - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रत्नत्रय से युक्त आत्मा को निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं।

व्यवहार सम्यग्दर्शन - सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के पच्चीस दोषों से रहित आठ अंगों से सहित यथार्थ श्रद्धान करने को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

निश्चय सम्यग्दर्शन - समस्त परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान करने को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं।

व्यवहार सम्यग्ज्ञान - विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला निज परमात्मा में रागादि रहित स्वसंवेदन होने को निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

व्यवहार सम्यक्चारित्र - मन, वचन, काय और कृत, कारित,

अनुमोदना से जो पाप क्रिया का त्याग होता है, उसे व्यवहार सम्यक्चारित्र कहते हैं।

निश्चय सम्यक्चारित्र – विशुद्ध ज्ञान–दर्शन स्वभाव वाला निज परमात्मा में निश्चल अनुभूति होने को निश्चय चारित्र कहते हैं। इसे वीतराग चारित्र भी कहते हैं।

रत्नत्रय स्वरूप आत्मा मोक्ष का निश्चय कारण

रयणत्तयं ण वट्टइ, अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तिय मइयो ,होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा॥ 40॥

अन्वयार्थ – **(अप्पाणं मुइत्तु)** आत्मा को छोड़कर **(अण्ण दवियम्हि)** अन्य द्रव्य में **(रयणत्तयं ण वट्टइ)** रत्नत्रय रूप धर्म नहीं होता **(तम्हा)** इस कारण से **(तत्तिय मइयो आदा)** रत्नत्रयात्मक आत्मा ही **(हु)** निश्चय से **(मोक्खस्स कारणं)** मोक्ष का कारण **(होदि)** है।

भावार्थ – आत्मा के सिवाय दूसरे किसी भी द्रव्य में रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र) नहीं होता। इसलिए रत्नत्रयात्मक आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण है।

जिस प्रकार आयुर्वेद में अमृतधारा – 1. कपूर, 2. अजवाइन, 3. पिपरमेन्ट के संयोग से बनाते हैं। इन तीनों को योग्य अनुपात में लेने पर अमृतधारा के लिए कारण बनते हैं। ये धीरे–धीरे पिघलकर अमृतधारा में परिवर्तित होते हैं जब अमृतधारा रूप परिणमन होते हैं तब कार्य पूर्ण होता है। अमृतधारा बनने से पूर्व पहले तीनों कारण थे परन्तु अमृतधारा बनने के बाद कार्य पूर्ण हो जाता है।

इसी प्रकार रत्नत्रय भी मोक्ष में पहले कारणरूप होता है बाद में मोक्ष में कार्यरूप परिणमन हो जाता है।

सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान

जीवादी सद्दहणं, सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं ,णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि॥ 41॥

अन्वयार्थ – (**जीवादी**) जीवादि तत्त्वों का (**सद्दहणं**) यथार्थ श्रद्धान करना (**सम्मत्तं**) सम्यक्त्व है (**तं**) वह (**अप्पणो रूवं**) आत्मा का स्वभाव है (**तु**) और (**जम्हि**) जिस सम्यग्दर्शन के (**सदि**) होने पर (**णाणं**) ज्ञान (**खु**) निश्चय से (**दुरभिणिवेस**) विपरीत अभिप्राय से (**विमुक्कं**) रहित होता हुआ (**सम्मं होदि**) सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ – जिनेन्द्रदेव के द्वारा बताये गये सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन ही आत्मा का स्वरूप है। सम्यग्दर्शन होने पर दुरभिनिवेश (संशय, विभ्रम और विमोह) रहित सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन बिना मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यादृष्टि के 11 अङ्ग व 9 पूर्व का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान होता है।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

संसय विमोह विब्भम, विवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मण्णाणं, सायारमणेयभेयं च॥ 42॥

अन्वयार्थ – (**अप्पपरसरूवस्स**) अपने आत्मा के व पर पदार्थों के स्वरूप का (**संसयविमोहविब्भम**) संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से (**विवज्जियं**) रहित (**गहणं**) ग्रहण करने को (**सम्मण्णाणं**) सम्यग्ज्ञान कहते हैं। (**सायारं**) यह ज्ञान साकार (**च**) और (**अणेयभेयं**) अनेक भेद वाला है।

भावार्थ – सम्यग्ज्ञान मात्र सम्यग्दृष्टि को ही होता है। संशय, विमोह, विभ्रम से रहित आत्मा के स्वरूप और आत्मा से भिन्न पर पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। वह साकार है और अनेक प्रकार का है।

संशय – यह कि वह ? इस प्रकार दो कोटियों के स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। संशय में किसी भी पदार्थ का निर्णय नहीं हो पाता। उदाहरण – सांप है या डोरी।

विमोह (अनध्यवसाय) – जिसमें यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता और संशय का विकल्प भी नहीं उठता और न विपरीत ज्ञान होता ऐसे अनिश्चित ज्ञान को विमोह अथवा अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे – चलते समय पैर में तृण आदि का स्पर्श होने पर स्पष्ट ज्ञान न होना! ये स्पर्श किस वस्तु का है, कुछ होगा ?

विभ्रम (विपर्यय) – विपरीत ये ऐसा ही है, इस तरह एक तरफा निर्णय करने वाले ज्ञान को विभ्रम कहते हैं। जैसे – सीप को चाँदी समझना।

सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद–1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मनःपर्ययज्ञान, 5. केवलज्ञान।

दर्शनोपयोग का स्वरूप

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णए समए॥ 43॥

अन्वयार्थ – (**अट्ठे**) पदार्थों में (**अविसेसिदूण**) विशेषता नहीं करके (**आयारं**) आकार को (**णेव कट्टु**) ग्रहण न करके (**जं**) जो (**भावाणं**) पदार्थों का (**सामण्णं**) सामान्य (**गहणं**) ग्रहण करना है (**इदि**) वह (**समए**) शास्त्रों में (**दंसणं**) दर्शन (**भण्णए**) कहा गया है।

भावार्थ – विशेष रूप को ग्रहण न करते हुए व पदार्थ का आकार भी न जानते हुए केवल सामान्यपने से पदार्थ की सत्ता का अवलोकन करना शास्त्रों में दर्शन कहा गया है।

दर्शन – पदार्थ में विशेष (भेद) न करते हुए और आकार का विकल्प न करते हुए जो सामान्य (सत्तावलोकन मात्र) ग्रहण करना है, इसे शास्त्र में दर्शन कहा है।

दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति के नियम

दंसणपुव्वं णाणं, छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जम्हा केवलि,णाहे जुगवं तु ते दो वि॥ 44॥

अन्वयार्थ – (**छदमत्थाणं**) अल्पज्ञानियों के (**दंसणपुव्वं णाणं**) दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है (**जम्हा**) क्योंकि (**दोण्णि**) दोनों (**उवउग्गा**) उपयोग वहाँ (**जुगवं**) एक साथ युगपत् (**ण**) नहीं होते हैं (**तु**) किन्तु (**केवलि णाहे**) केवलज्ञानी के (**दो वि**) दोनों ही उपयोग (**जुगवं**) युगपत् एक साथ होते हैं।

भावार्थ – जो छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी हैं या जिनके ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म किञ्चित् शेष बचे हैं। ऐसे मुनि को (ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग) एक साथ न होते हुए प्रथम दर्शन बाद में ज्ञान होता है क्योंकि ये दोनों उपयोग केवली भगवान् को एक साथ होते हैं।

छद्मस्थ – छद्मस्थ अर्थात् छद्म में रहने वाला छद्म का अर्थ ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म है। ये दोनों कर्म से अविरत होने वाला जीव छद्मस्थ जीव है अर्थात् पहले (मिथ्यादृष्टि) गुणस्थान से बारहवाँ (क्षीणमोह) गुणस्थान तक जीव छद्मस्थ होता है। उसका ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। मतलब छद्मस्थ के दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग की प्रवृत्ति युगपत् नहीं होती।

परन्तु जीव जब सम्पूर्ण घाति कर्मों का नाश करके सकल परमात्मा (तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती) बनते हैं। इसी तरह निकल परमात्मा (सिद्ध भगवान्) बनते हैं तब उनकी दर्शनोपयोग की और ज्ञानोपयोग की प्रवृत्ति युगपत् होती है।

व्यवहार चारित्र का स्वरूप और भेद

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं, ववहारणया दु जिणभणियं॥ 45॥

अन्वयार्थ – (**ववहारणया**) व्यवहार नय से (**असुहादो विणि-वित्ती**) अशुभ क्रिया से निवृत्ति होने (**य**) और (**सुहे पवित्ति**) शुभ क्रिया

में प्रवृत्ति होने को (**जिणभणियं**) जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ (**चारित्तं जाण**) चारित्र जानो (**दु**) वह चारित्र (**वदसमिदिगुत्तिरूवं**) व्रत, समिति और गुप्ति रूप है।

भावार्थ – व्यवहार नय से अशुभ से निवृत्ति और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करना इसका नाम चारित्र है। ये व्रत, समिति, गुप्ति आदि रूप हैं, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

चारित्र – संसार के कारणभूत ऐसे बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओं से निवृत्ति होना चारित्र है।

निश्चयचारित्र का स्वरूप

बहिरब्भंतर किरिया, रोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं, तं परमं सम्मचारित्तं॥ 46॥

अन्वयार्थ – (**भवकारणप्पणासट्ठं**) संसार के कारणों के नाश के लिए (**णाणिस्स**) ज्ञानी जीव के (**बहिरब्भंतरकिरियारोहो**) बाह्य तथा आभ्यंतर क्रियाओं का निरोध (**जं जिणुत्तं**) जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है (**तं परमं सम्मचारित्तं**) वह निश्चय सम्यक् चारित्र है।

भावार्थ – सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद संसार के कारण का नाश होना इसके लिए मन, वचन और काय का शुभ और अशुभ बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध करना (शुद्धोपयोग रूप होना) निश्चय चारित्र है।

संसार – संसरण करना अर्थात् जन्म-मरण को संसार कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, संसार के कारण हैं।

निश्चय सम्यक्चारित्र – संसार के कारण का नाश करने के लिए ज्ञानी जीव का बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं का जो निरोध होता है, वह निश्चय चारित्र है।

निश्चय चारित्र सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चौदहवें अयोग केवली तक के गुणस्थान में रहता है।

दुविहं पि मोक्खहेउं, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता, जूयं झाणं समब्भसह॥ 47॥

अन्वयार्थ - (**जं**) जिस कारण से (**मुणी दुविहं पि**) मुनि दोनों प्रकार के (**मोक्खहेउं**) मोक्ष के कारणों को (**झाणे**) ध्यान में (**णियमा**) नियम से (**पाउणदि**) प्राप्त कर लेता है (**तम्हा**) उस कारण से (**पयत्तचित्ता**) प्रयत्नचित्त होकर (**जूयं झाणं**) तुम सब ध्यान का (**समब्भसह**) अच्छी प्रकार से अभ्यास करो।

भावार्थ - ध्यान करने वाले मुनि को निश्चय और व्यवहार ऐसे दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है इसलिए तुम्हें भी जब मोक्षमार्ग की इच्छा हो तो तुम भी प्रयत्नचित्त से, एकाग्र होकर पुरुषार्थ पूर्वक ध्यान का अभ्यास करो।

निश्चय और व्यवहार ऐसे दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग की सिद्धि ध्यान से होती है। निर्विकार स्वसंवेदन रूप परम ध्यान के द्वारा मुनियों को मोक्षमार्ग की सिद्धि प्राप्त होती है।

ध्यानलीन का उपाय

मा मुज्झह मा रज्जह, मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं, विचित्त झाणप्पसिद्धीए॥ 48॥

अन्वयार्थ - (**विचित्तझाणप्पसिद्धीए**) अनेक प्रकार के ध्यान की सिद्धि के लिए (**जइ चित्तं**) यदि चित्त को (**थिरमिच्छहि**) स्थिर करना चाहते हो तो (**इट्ठणिट्ठअत्थेसु**) इष्ट, अनिष्ट पदार्थों में (**मा मुज्झह**) मोह मत करो, (**मा रज्जह**) राग मत करो और (**मा दुस्सह**) द्वेष मत करो।

भावार्थ - अगर सच में शुभाशुभ विकल्प रहित ध्यान करने की इच्छा रखते हो तो इष्ट पदार्थ में मोह और अनुराग मत करो। अनिष्ट पदार्थों में द्वेष मत करो क्योंकि इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष करके जीव संसार में फँसता है अर्थात् संसार परिभ्रमण बढ़ता है और इसके अभाव में रत्नत्रय की

प्राप्ति करके, चित्त को स्थिर रख, जीव संसार से मुक्त होता देखा जाता है।

राग – इष्ट पदार्थ में प्रीतिरूप परिणाम होना राग है।

द्वेष – अनिष्ट पदार्थ में अप्रीति रूप परिणाम होना द्वेष है।

मोह – मोह का अर्थ मूर्च्छा है। अपने स्वरूप को भूलकर पर वस्तु में ममत्व भाव होना मोह है। जो आत्मा को मूर्च्छित कर देता है, उसे मूर्च्छा कहते हैं।

ध्यान – समस्त अन्य पदार्थों से चित्त को अलग करके एक ही विषय में चित्त एकाग्र करना/स्थिर करना ध्यान है।

ध्यान करने योग्य मन्त्र

पणतीस सोल छप्पण, चदु दुगमेगं च जवहज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं, अण्णं च गुरूवएसेण॥ 49॥

अन्वयार्थ – (**परमेट्ठिवाचयाणं**) परमेष्ठियों के वाचक (**पणतीस**) पैंतीस (**सोल**) सोलह (**छप्पण**) छह, पाँच (**चदु दुगं**) चार, दो (**एगं**) एक अक्षरों के मन्त्रों को (**जवहज्झाएह**) जपो और ध्यान करो तथा (**गुरूवएसेण**) गुरु के उपदेश के अनुसार (**अण्णं च**) अन्य भी मन्त्रों को जपो और ध्यान करो।

भावार्थ – पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक ऐसे क्रम से उतने-उतने अक्षरों का परमेष्ठी वाचक मंत्र का तुम जाप व ध्यान करो। गुरुपदिष्ट अन्य मंत्रों का भी जाप और ध्यान करो।

मंत्र – जिसके द्वारा महापुरुषों की आराधना करके आत्मशान्ति प्राप्त की जाती है अथवा मं-मन, त्र-रक्षण अर्थात् विषय कषायों से मन की रक्षा होती है, उसे मंत्र कहते हैं।

जप – **ज** – जन्मविच्छेदक, **प** – पापनाशक।

परमेष्ठी – जो परमपद में स्थित हैं, उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। ये पाँच हैं- 1. अरिहंत, 2. सिद्ध, 3. आचार्य, 4. उपाध्याय, 5. साधु।

पैंतीस अक्षर का मन्त्र – णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

सोलह अक्षर – अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साहू अथवा अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

छह अक्षर – अरिहंत सिद्ध।

पाँच अक्षर – अ सि आ उ सा।

चार अक्षर – अरिहन्त।

दो अक्षर – सिद्ध।

एक अक्षर – **ॐ** (ओम्)

अरिहंता असरीरा आयरीया तह उवज्झाया मुणिणो।
पढमक्खर-णिप्पणणो ओंकारो पंच-परमेष्ठी॥

अरिहंत का प्रथम अक्षर अ, अशरीरी (सिद्ध) का प्रथम अक्षर अ, आचार्य का प्रथम अक्षर आ, उपाध्याय का प्रथम अक्षर उ और मुनि का प्रथम अक्षर म इस प्रकार से – अ+अ+आ+उ+म ये पाँच अक्षर व्याकरण के अनुसार संधी करने पर होता है 'ओम्' (**ॐ**) ये एक अक्षरी मंत्र निष्पन्न होता है। **ॐ** (ओम्) मतलब पंच परमेष्ठी।

अरिहंत परमेष्ठी का स्वरूप

णट्ठ चदुघाइकम्मो, दंसण सुह णाण वीरिय मईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा, सुद्धो अरिहो विचितिंज्जो॥ 50॥

अन्वयार्थ – **(णट्ठचदुघाइकम्मो)** नष्ट हो गये हैं चार घातिया कर्म जिनके **(दंसणसुहणाणवीरियमईओ)** जो अनन्तदर्शन,अनन्तज्ञान, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य सहित हैं **(सुहदेहत्थो)** शुभ परम औदारिक शरीर में स्थित हैं **(सुद्धो)** जो शुद्ध हैं **(अप्पा अरिहो)** वे आत्मा अरिहन्त परमेष्ठी हैं और **(विचितिंज्जो)** ध्यान के योग्य हैं।

भावार्थ – चार घातिया कर्मों का नाश करने वाले, अनन्त चतुष्टय के

धारक सप्तधातु रहित, परम औदारिक शरीर सहित और अठारह दोषों से रहित अरिहन्त परमेष्ठी होते हैं। उनको तीन काल, तील लोक के समस्त चराचर पदार्थ युगपत् दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे अरिहन्त परमेष्ठी के वीतराग स्वरूप के चिन्तन करने चाहिए। वीतराग प्रतिमा का ध्यान भी रूपस्थ ध्यान के अन्तर्गत आता है।

घातिया कर्म – जिस कर्म के उदय से जीव के ज्ञानादिक अनुजीवी गुणों का घात होता है, उसे घातिया कर्म कहते हैं। वे चार हैं– ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण कर्म, मोहनीय कर्म, अन्तराय कर्म।

अनन्त चतुष्टय – 1. अनन्तज्ञान, 2. अनन्तदर्शन, 3. अनन्त सुख, 4. अनन्तवीर्य।

अठारह दोष – भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मृत्यु, भय, गर्व, आसक्ती, द्वेष, मोह, चिन्ता, खेद, अप्रीति, निद्रा, आश्चर्य, शोक, पसीना।

अरिहंत – अ–अरि अर्थात् मोहनीय कर्म, र– रज अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म, र–रहस्य अर्थात् अन्तराय कर्म, हंत अर्थात् रहित अवस्था अरिहंत हैं।

सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप

णट्ठट्ठ कम्मदेहो, लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा, सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो॥ 51॥

अन्वयार्थ – (**णट्ठट्ठकम्मदेहो**) नष्ट हो गए हैं अष्ट कर्म और शरीर जिसके (**लोयालोयस्स**) लोक और अलोक को (**जाणओ दट्ठा**) जानने देखने वाली, (**पुरिसायारो**) जिस पुरुष देह से मोक्ष हुआ है उस पुरुष के आकार वाली (**अप्पा**) आत्मा (**सिद्धो**) सिद्ध परमेष्ठी कहलाती है (**लोयसिहरत्थो**) ऐसे लोक के शिखर पर स्थित सिद्ध परमेष्ठी का (**झाएह**) ध्यान करो।

भावार्थ – सिद्ध परमेष्ठी के गुणों का चिन्तन करना रूपातीत ध्यान है, इस ध्यान में ध्याता (ध्यान करने वाला) सिद्धों के गुणों का चिन्तन करते हुए ऐसा विचार करता है कि सिद्ध परमेष्ठी अमूर्तिक, अष्ट कर्मों से रहित,

सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सहित, निर्लेप, निर्विकार, निष्कलंक, परम शान्त और त्रैलोक्य के शिखर पर वास करने वाले शुद्ध आत्मा हैं।

इस प्रकार से सिद्धों के गुणों में तन्मय होकर वह साधक मुनि आगे स्वयं के शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, कर्म रहित स्वरूप में लीन होते हैं।

आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप

दंसणणाणपहाणे, वीरिय-चारित्त-वरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ, सो आयरिओ मुणी झेओ॥ 52॥

अन्वयार्थ - (**जो**) जो (**मुणी**) मुनि (**दंसणणाण पहाणे**) दर्शन और ज्ञान की प्रधानता सहित (**वीरियचारित्तवरतवायारे**) वीर्य, चारित्र तथा श्रेष्ठ तपाचार में (**अप्पं च परं**) अपने को व दूसरों को (**जुंजइ**) लगाते हैं (**सो आइरिओ**) वे आचार्य परमेष्ठी (**झेओ**) ध्यान करने योग्य हैं।

भावार्थ - जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप, इन पञ्चाचारों का स्वयं आचरण करते हैं और अपने शिष्य साधुओं से भी आचरण करवाते हैं, संघ के प्रमुख होते हैं। शिक्षा, दीक्षा और धर्मोपदेश, जिनके कार्य होते हैं। जो समुद्र के समान गम्भीर, मेरु के समान निश्चल, पृथ्वी के समान सहनशील उसी प्रकार सात भयों से रहित होते हैं। ऐसे आचार्य परमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं।

आचार्य परमेष्ठी - जो साधु दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप, इन पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं, उसी प्रकार दूसरों से भी उनका पालन करवाते हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं।

आचार - अपनी शक्ति अनुसार निर्मल किए हुए सम्यग्दर्शनादि में जो क्रियायें की जाती हैं, उसे आचार कहते हैं। आचार पाँच होते हैं।

1. दर्शनाचार, 2. ज्ञानाचार, 3. चारित्राचार, 4. तपाचार, 5. वीर्याचार।

दर्शनाचार - सम्यग्दर्शन में आचरण करने को दर्शनाचार कहते हैं।

ज्ञानाचार - सम्यग्ज्ञान में आचरण करने को ज्ञानाचार कहते हैं।

चारित्राचार - सम्यक्चारित्र में आचरण करने को चारित्राचार कहते हैं।

तपाचार - सम्यग्तप में आचरण करने को तपाचार कहते हैं।

वीर्याचार – सम्यक् वीर्य में आचरण करने को वीर्याचार कहते हैं। (चार आचारों को धारण और रक्षा करने के लिए आत्म शक्ति का प्रकट होना वीर्य कहलाता है।)

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

जो रयणत्तयजुत्तो, णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा, जदिवरवसहो णमो तस्स॥ 53॥

अन्वयार्थ – (**जो**) जो (**रयणत्तयजुत्तो**) रत्नत्रय से युक्त हैं (**णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो**) नित्य धर्म का उपदेश करने में लीन हैं (**सो जदिवरवसहो**) वह मुनिवरों में प्रधान (**अप्पा**) आत्मा (**उवज्झाओ**) उपाध्याय परमेष्ठी है (**तस्स णमो**) उनको नमस्कार हो।

भावार्थ – ''उप समीप, यस्य समीपे अधीते शिष्यवर्गः पठति स उपाध्यायः'' अर्थात् जिनके सान्निध्य में आत्मकल्याणार्थी साधुवर्ग अध्ययन करते हैं, वे उपाध्याय होते हैं। रत्नत्रय के धारक, धर्मोपदेशक व यतिश्रेष्ठ ऐसे शुद्धात्मा उपाध्याय मुनि को नमस्कार हो।

उपाध्याय परमेष्ठी – जो रत्नत्रय के धारक धर्मोपदेशक और मुनिव्रतों के धारक होते हैं। उनको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।

रत्नत्रय – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी के विशेष गुण – ग्यारह अंग व चौदह पूर्व का ज्ञान होने से उपाध्यायों के 25 विशेष गुण होते हैं। शेष 28 मूलगुण सर्व साधु में समान रूप से होने से समान गुण हैं।

उपाध्याय शब्द का अर्थ – जिस व्रत शील, भावनाशील, महानुभाव के पास जाकर भव्यात्मा विनयपूर्वक जिनवाणी का अध्ययन करते हैं, वे उपाध्याय होते हैं।

साधु परमेष्ठी का स्वरूप

दंसणणाणसमग्गं, मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं, साहू स मुणी णमो तस्स॥ 54॥

अन्वयार्थ – (**जो णिच्चसुद्धं**) जो नित्य शुद्ध अर्थात् रागादि रहित (**मोक्खस्स मग्गं**) मोक्ष के कारणभूत (**दंसण णाण समग्गं**) दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण (**चारित्तं**) चारित्र को (**हु**) निश्चय से (**साधयदि**) साधता है (**स मुणी साहू**) वह मुनि साधु परमेष्ठी है (**तस्स णमो**) उनको नमस्कार हो।

भावार्थ – जो दिगम्बर मुनि मोक्ष के कारण होने से निर्मल सम्यग्दर्शनादि धारण करके अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करता है। पाँच महाव्रतादि 28 मूलगुण धारण करता है। तीन गुप्ति से सहित अठारह हजार शील को धारण करने वाले और चौरासी लाख उत्तर गुणों के पालन करने वाले साधु होते हैं, उन्हें नमस्कार हो। ऐसे साधु परमेष्ठी का ध्यान करो।

साधु के निश्चय ध्यान की योग्यता

जं किंचिवि चिंतंतो, णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं, तदाहु तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं॥ 55॥

अन्वयार्थ – (**जदा**) जिस समय (**जं किंचिवि**) जो कुछ भी (**चिंतंतो**) चिंतन करता हुआ (**साहू**) साधु (**एयत्तं**) एकाग्रता को (**लद्धूणय**) प्राप्त करके (**णिरीह वित्ती**) इच्छा रहित (**हवे**) होता है (**तदा**) उस समय (**तस्स**) उस साधु का (**तं**) वह (**णिच्छयं ज्झाणं**) निश्चय ध्यान (**आहु**) कहा जाता है।

भावार्थ – जब साधु ध्येय पदार्थ में एकाग्र होकर उस वस्तु का चिन्तन करते हुए निस्पृही व्रत धारण करते हैं। उस समय साधु के उस ध्यान को निश्चय ध्यान कहते हैं। विषय और कषायों को दूर करने के लिए और चित्त स्थिर करने के लिए पञ्चपरमेष्ठी परद्रव्य भी ध्येय होते हैं, फिर जब अभ्यास से चित्त स्थिर होता है, तब शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव निज शुद्ध आत्मा

का स्वरूप ही ध्येय होता है।

ध्याता – ध्यान करने वाले को ध्याता कहते हैं।

ध्यान – अपनी चित्तवृत्ति को सब तरफ से रोककर एक ही विषय में स्थिर करने को ध्यान कहते हैं।

ध्येय – जिसका ध्यान किया जाता है, उसे ध्येय कहते हैं।

आत्मलीनता के उपाय

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥ 56 ॥

अन्वयार्थ – (**किंवि**) कुछ भी (**मा चिट्ठह**) चेष्टा मत करो (**मा जंपह**) मत बोलो (**मा चिंतह**) मत विचारो (**जेण अप्पा अप्पम्मि**) जिससे आत्मा आत्मा में (**रओ**) रत होता हुआ (**थिरो होइ**) स्थिर हो जाय (**इणमेव**) यह ही (**परं ज्झाणं**) परम ध्यान (**हवे**) है।

भावार्थ – उत्कृष्ट ध्यान करने के लिए समस्त संकल्प-विकल्पों को छोड़ देना चाहिए इससे आत्मा में पूर्ण निश्चल रूप से स्थिरता आती है। इसके लिए नित्य निरंजन और क्रिया रहित निज शुद्ध आत्मा के शुभ-अशुभरूप शरीर की क्रिया का, शुभ-अशुभ अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग रूप वचनों का, शुभ-अशुभ विकल्प रूप मन का व्यापार न करने से आत्मा स्थिर होती है अर्थात् आत्मा आत्मा में लीन होती है। यही उत्कृष्ट ध्यान है।

ध्यान के साधन, तप, श्रुत और व्रत

तवसुदवदवं चेदा, ज्झाण रहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा, तल्लद्धीए सदा होह ॥ 57 ॥

अन्वयार्थ – (**जम्हा**) जिस कारण से (**तवसुदवदवं**) तप, श्रुत और व्रत वाली (**चेदा**) आत्मा ही (**ज्झाणरहधुरंधरो**) ध्यान रूपी रथ की धुरी को धारण करने वाली (**हवे**) होती है (**तम्हा**) उस कारण से (**तल्लद्धीए**) उस ध्यान की प्राप्ति के लिए (**सदा**) हमेशा (**तत्तियणिरदा**)

तप, श्रुत और व्रत इन तीनों में निरत **(होह)** होओ।

भावार्थ – तप का धारक, शास्त्रों का अभ्यास करने वाला और महाव्रतों का पालन करने वाला पुरुष ध्यान रूपी रथ को चला सकता है संसार शरीरादि पदार्थों में आसक्त रहने वाला व्यक्ति का ध्यान होना अति कठिन होता है तब फिर वह शुद्ध ध्यान भला कैसे करेगा ?

ग्रन्थकार की लघुता

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा, दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण, णेमिचंद मुणिणा भणियं जं॥ 58॥

अन्वयार्थ – **(तणुसुत्तधरेण)** थोड़े श्रुत को धारण करने वाले **(णेमिचंदमुणिणा)** मुझ नेमिचन्द्र मुनि के द्वारा **(जं भणियं)** जो कहा गया है **(इणं दव्वसंगहं)** ऐसे इस द्रव्यसंग्रह को **(दोससंचयचुदा)** समस्त दोषों से रहित **(सुदपुण्णा मुणिणाहा)** और श्रुत में परिपूर्ण ऐसे प्रधान मुनि गुरुजन **(सोधयंतु)** शुद्ध करें।

भावार्थ – निर्दोष और ज्ञान से पूर्ण ऐसे मुनिराज इस द्रव्यसंग्रह को शुद्ध करें। यहाँ आचार्य श्री जी के छद्मस्थ होने के कारण दोष होने की सम्भावना हो सकती है। इसलिए ज्ञानी मुनि इसे शुद्ध करें, ऐसा कह रहे हैं। श्रुतदेवता की भक्ति के कारण से निर्दोष वर्णन करते हुए भी ग्रन्थकर्त्ता अपनी लघुता व्यक्त करते हैं कि मैंने अल्प श्रुतज्ञान के कारण जो कुछ लिखा है उसका विद्वान् जन संशोधन कर लें।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

द्रव्य संग्रह

मंगलाचरण

जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं, वंदे तं सव्वदा सिरसा॥ 1॥

जीव द्रव्य के नौ अधिकार

जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥ 2॥

जीवत्व अधिकार

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥ 3॥

उपयोग अधिकार (दर्शनोपयोग के भेद)

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खुओही दंसणमध केवलं णेयं॥4॥

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठवियप्पं, मदिसुद ओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि, पच्चक्ख-परोक्ख-भेयं च॥5॥

नय की अपेक्षा जीव का स्वरूप

अट्ठचदुणाण-दंसण-, सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया, सुद्धं पुण दंसणं णाणं॥6॥

जीव के मूर्तिक और अमूर्तिक रूप

वण्ण रस पंच गंधा, दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो॥7॥

कर्त्ता अधिकार का वर्णन

पुग्गलकम्मादीणं, कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं॥8॥

भोक्ता अधिकार का वर्णन

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स॥9॥

स्वदेह परिमाणाधिकार

अणुगुरुदेहपमाणो, उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा॥10॥

संसारी जीवाधिकार

पुढविजलतेउवाऊ, वणप्फदी विविह-थावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा, तसजीवा होंति संखादी॥11॥

चौदह जीवसमास

समणा अमणा णेया पंचिंदिय-णिम्मणा परे सव्वे।
बादर सुहुमे - इंदिय सव्वे पज्जत्त इदरा य॥12॥

मार्गणा और गुणस्थान अपेक्षा से जीव के भेद

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥13॥

सिद्धत्व और उर्ध्वगमनत्व अधिकार

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पादवएहिं संजुत्ता॥14॥

अजीव के भेद

अज्जीवो पुण णेओ, पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गलमुत्तो, रूवादिगुणो अमुत्तिसेसा दु॥15॥

पुद्गल द्रव्य की पर्याय

सद्दो बंधो सुहुमो, थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया, पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥ 16॥

धर्म द्रव्य का स्वरूप

गइ परिणयाण धम्मो, पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं, अच्छंता णेव सो णेई॥ 17॥

अधर्म द्रव्य का स्वरूप

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी।
छाया जहपहियाणं गच्छंता णेव सो धरई॥ 18॥

आकाश द्रव्य का स्वरूप

अवगासदाणजोग्गं, जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं, अल्लोगागासमिदि दुविहं॥ 19॥

लोकाकाश और अलोकाकाश का स्वरूप

धम्माधम्मा कालो, पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो, तत्तो परदो अलोगुत्तो॥ 20॥

काल द्रव्य का स्वरूप

दव्वपरिवट्टरूवो, जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्ठो॥ 21॥

काल द्रव्य के प्रदेश

लोयायासपदेसे, इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव, ते कालाणू असंखदव्वाणि॥ 22॥

द्रव्य और अस्तिकाय के भेद

एवं छब्भेयमिदं, जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु॥ 23॥

अस्तिकाय का स्वरूप

संति जदो तेणेदे, अत्थित्ति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा, तम्हा काया य अत्थिकाया य॥ 24॥

द्रव्यों की प्रदेश संख्या

होंति असंखा जीवे, धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविहपदेसा, कालस्सेगो ण तेण सो काओ॥ 25॥

परमाणु उपचार से काय

एयपदेसो वि अणू, णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा, तेण य काओ भणंति सव्वण्हु॥ 26॥

प्रदेश का स्वरूप

जावदियं आयासं, अविभागी पुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे, सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥ 27॥

पदार्थों के नाम निर्देश

आसव-बंधण-संवर-, णिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा, ते वि समासेण पभणामो॥ 28॥

भावास्रव और द्रव्यास्रव का स्वरूप

आसवदि जेण कम्मं, परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो, कम्मासवणं परो होदि॥ 29॥

भावास्रव का स्वरूप

मिच्छत्ताविरदिपमादजोग-कोधादओऽथ विण्णेया।
पणपणपणदहतिय चदु, कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥ 30॥

द्रव्यास्रव का स्वरूप और भेद

णाणावरणादीणं, जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ, अणेयभेओ जिणक्खादो॥ 31॥

भावबन्ध व द्रव्यबन्ध का स्वरूप

बज्झदि कम्मं जेण दु, चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं, अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥ 32॥

बन्ध के और कारण

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेस-भेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा, ठिदिअणुभागा कसायदो होंति॥ 33॥

भाव संवर और द्रव्य संवर का स्वरूप

चेदणपरिणामो, जो कम्मस्सासव णिरोहणे हेदु।
सो भावसंवरो खलु, दव्वासवरोहणे अण्णो॥ 34॥

भाव संवर के भेद

वद-समिदीगुत्तीओ, धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा॥ 35॥

निर्जरा का स्वरूप और भेद

जहकालेण तवेण य, भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया, तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा॥ 36॥

मोक्ष का स्वरूप और भेद

सव्वस्स कम्मणो जो, खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेओ स भावमोक्खो, दव्वविमोक्खो य कम्मपुहभावो॥37॥

पुण्य और पाप

सुहअसुहभावजुत्ता, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं, गोदं पुण्णं पराणि पावं च॥ 38॥

मोक्ष का निरूपण

सम्मद्दंसणणाणं, चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो, तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥ 39॥

रत्नत्रय स्वरूप आत्मा मोक्ष का निश्चय कारण

रयणत्तयं ण वट्टइ, अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तिय मइओ, होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ।।40 ।।

सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान

जीवादी-सद्दहणं, सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं, णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि।।41 ।।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

संसय-विमोह-विब्भम-विवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं, सायारमणेयभेयं च॥ 42 ॥

दर्शनोपयोग का स्वरूप

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥ 43 ॥

दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति के नियम

दंसणपुव्वं णाणं, छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि॥ 44 ॥

व्यवहारचारित्र का स्वरूप और भेद

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं॥ 45 ॥

निश्चयचारित्र का स्वरूप

बहिरब्भंतरकिरियारोहो, भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं, तं परमं सम्मचारित्तं॥ 46 ॥

ध्यानाभ्यास की प्रेरणा

दुविहं पि मोक्खहेउं, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता, जूयं झाणं समब्भसह॥ 47 ॥

ध्यान लीन का उपाय

मा मुज्झह मा रज्जह, मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं, विचित्त झाणप्पसिद्धीए॥ 48॥

ध्यान करने योग्य मन्त्र

पणतीस-सोल-छप्पण-,चदु-दुग-मेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं, अण्णं च गुरूवएसेण॥ 49॥

अरिहंत परमेष्ठी का स्वरूप

णट्ठ-चदुघाइकम्मो, दंसण-सुह-णाण-वीरिय-मईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा, सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो॥ 50॥

सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप

णट्ठट्ठ- कम्मदेहो, लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा, सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो॥ 51॥

आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप

दंसणणाणपहाणे, वीरिय-चारित्त-वर-तवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ, सो आइरिओ मुणी झेओ॥ 52॥

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

जो रयणत्तयजुत्तो, णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो।
सो उवझाओ अप्पा, जदिवरवसहो णमो तस्स॥ 53॥

साधु परमेष्ठी का स्वरूप

दंसणणाणसमग्गं, मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं, साहू सो मुणी णमो तस्स॥ 54॥

साधु के निश्चय ध्यान की योग्यता

जं किंचिवि चिंतंतो, णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं, तदा हु तं तस्स णिच्छयं झाणं॥ 55॥

आत्मलीनता के उपाय

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं॥ 56॥

ध्यान के साधन, तप, श्रुत और व्रत

तवसुदवदवं चेदा, झाण-रहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा, तल्लद्धीए सदा होइ॥ 57॥

ग्रन्थकार की लघुता

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा, दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण, णेमिचंद मुणिणा भणियं जं॥ 58॥